

वर्ष ४४] * * * * [अङ्क १२

विषय-सूची

कल्याण, सौर पौष, सं० २०२७, दिसम्बर १९७०

चित्र-सूची

वार्षिक मूल्य भारतमें ९.०० विदेशमें १३.३५ (१५ शिलिंग) } जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥ { साधारण प्रति भारतमें ५० पैसे विदेशमें ८० पैसे (१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री

मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर



देवाधिदेव भगवन् कामपाल नमोऽस्तु ते । नमोऽनन्ताय शेषाय साक्षाद् रामाय ते नमः ॥
नमः श्रीकृष्णचन्द्राय परिपूर्णतमाय च । असंख्याण्डाधिपतये गोलोकपतये नमः ॥

वर्ष ४४ } गोरखपुर, सौर पौष, विक्रम संवत् २०२७, दिसम्बर १९७० { संख्या १२ पूर्ण संख्या ५२९

व्रजेश्वरीकी गोदमें गोविन्द

व्रजेस्वरि-गोद मैं गोविंद ।
चकित दृष्टि, पदकमल अँगूठा चूसत मुख-अरबिंद ॥
बालमुकुंद, केस घुँघुरारे, सिर सिखिपिच्छ अनूप ।
बाजूबँद, बघनखा, करधनी, पग पैंजनि अतिरूप ॥
निरखि रही मैया मुखकमलहि स्नेहदृगनि, मृदु हास ।
कोमल कर सौं दिए सहारौ मन अतिसै उल्लास ॥

याद रखो--जबतक चित्त अशान्त है, तबतक किसी भी परिस्थितिमें वास्तविक सुख नहीं हो सकता और जबतक सांसारिक भोगोंके प्रति आकर्षण है, उनको प्राप्त करनेकी कामना है, तबतक चित्त शान्त हो नहीं सकता। गीतामें भगवान्ने अर्जुनसे कहा—'जो सारी कामनाओंको छोड़ चुका है, जो निःस्पृह है, जिसकी किसी प्राणी-पदार्थ-परिस्थितिमें ममता नहीं है और जो अहंकारसे रहित है, वह शान्ति प्राप्त करता है।' अथवा 'जो सर्वयज्ञ-तपभोक्ता, सर्वलोकमहेश्वर (मुझ सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्) को प्राणीमात्रका सुहृद् जानता है, अर्थात् जो भगवान्के प्रत्येक विधानको मङ्गलमय अनुभव करके प्रत्येक परिस्थितिमें उनके सौहार्दको देखता है, वह शान्तिको प्राप्त होता है।' अतएव जबतक भोगकामना है, तबतक चाहे जितनी भौतिक सम्पत्ति, समृद्धि, पद, अधिकार मिल जाय, उसे शान्ति मिल ही नहीं सकती। आगमें ईंधन-घी पड़नेपर अग्निके अधिकाधिक धधकनेकी भाँति उसकी कामनाकी अग्नि उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है और उसी अनुपातमें जलन या अशान्ति भी बढ़ती है।

याद रखो–यदि वास्तवमें मनुष्य सुख चाहता है तो उसे जहाँ सुख—वास्तविक सुख है, उस स्थानपर पहुँचना होगा। वह स्थान है—नित्य एकरस सुख-स्वरूप आत्मा, और आत्मातक पहुँचनेके लिये शान्तिकी आवश्यकता है। अतएव शान्तिकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करना आवश्यक है। यह भी याद रखना चाहिये कि आत्मा अपना स्वरूप है, भोग प्रकृतिकी चीज है, इसलिये भोग-कामनाका त्याग, तज्जनित शान्ति और आत्माके स्वरूपकी उपलब्धि सहज है। पर मनुष्यकी बुद्धि तमसाच्छन्न हो गयी है, तमसे ढकी हुई बुद्धि पापको पुण्य, त्याज्यको ग्राह्य, अधर्मको धर्म बतलाती है और इससे मनुष्यका जीवन दुष्प्रवृत्तिमें लग जाता है। जहाँ तामसी दुर्बुद्धि और तामसी बुद्धिजनित कामोपभोगपरायणतायुक्त आसुरी दुष्प्रवृत्ति हो जाती है, वहाँ मनुष्यके द्वारा सभी विपरीत कर्म होते हैं और उन नीच कर्मोंके अनुसार नीच संस्कार, उनसे मानसमें नीच प्रेरणा और नीच प्रेरणासे पुनः नीच कर्म बनते जाते हैं—और जीवन सर्वथा पापमय बनकर पतनके गर्तमें गिर जाता है तथा विविध भौतिकी अवाञ्छनीय विकृति और विपत्तियाँ जीवनका स्वरूप बन जाती हैं। इससे बचनेकी चेष्टा करनी है।

याद रखो—इससे बचनेके लिये बचना होगा कुसङ्गसे। कुसङ्ग केवल किसी पतित मनुष्यका ही नहीं होता। स्थान, वातावरण, साहित्य, खान-पान, रहन-सहन, कपड़े-लत्ते, व्यवहार-वाणिज्य आदि सभी कुसङ्ग हो सकते हैं। जिस स्थानमें निवास करनेसे तामसिक बुद्धि बढ़ती हो, जिस वातावरणसे भोगवासना तथा पापवासना बढ़ती हो, जिन पुस्तकों-पत्रोंके पढ़नेसे वृत्तियाँ दूषित होती हों, जिस खान-पानसे मनमें तमोगुण बढ़ता हो, जिस रहन-सहनसे भगवान्के प्रति अश्रद्धा तथा भोगवासना बढ़ती हो, जिन वस्त्रोंके पहननेसे भोगासक्ति उत्पन्न होती और बढ़ती हो, जो व्यवहार-वाणिज्य या आजीविकाका साधन चोरी, हिंसाकी प्रवृत्ति तथा दूसरोंका अहित करनेवाला हो एवं जो कुछ भी देखने-सुनने, बात-चीत करनेके विषयभोगमें रुचि, आसक्ति और भगवान्में अरुचि पैदा करनेवाले हों, वे सभी कुसङ्ग हैं और उनका जितना शीघ्र, जितने अंशमें त्याग किया जाय, कर देना आवश्यक है। उसके बदले सत्साहित्यका अध्ययन, सदाचारका

पालन, शुद्ध खान-पान, शुद्ध वस्त्र, व्यवसाय-वाणिज्य करना चाहिये।

याद रक्खो—शान्ति-सुखके लिये शुद्ध कामना, शुद्ध क्रिया, शुद्ध विचार, शुद्ध इच्छा, शुद्ध दर्शन, शुद्ध श्रवण तथा शुद्ध कथन आवश्यक है। शुद्ध वही है, जिससे मन-इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त हो, प्राणीमात्रपर दया हो, मन-तन-वचनसे किसीकी हिंसा न हो, चोरी-ठगी न हो, दूसरेके हकपर मन न चले, भगवान्‌में मन लगे, भगवच्चरणोंमें राग हो, भोगोंमें वैराग्य हो और सबमें भगवान् समझकर सबको सुख पहुँचाने, सबकी सेवा करने तथा सबका हित करनेकी प्रवृत्ति एवं उत्साह हो।

'शिव'

ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश

[पुराने सत्सङ्गसे]

ज्ञानी उसे कहते हैं जिसके हृदयमें ज्ञान हो, जो भगवान्‌के तत्त्व-रहस्यको जाननेवाला हो। वह ज्ञानी ऐसा निष्काम होता है कि देनेपर भी नहीं लेता, माँगना तो दूर रहा। इस संदर्भमें प्रह्लादजीका उदाहरण दिया गया है। भगवान् प्रह्लादसे कहते हैं—'वर माँग।' प्रह्लाद उत्तर देता है—'भगवन्! आप क्या मुझे छल रहे हो? मैं क्या वणिक् हूँ—सौदा करता हूँ?' तब भगवान् बोले—'मेरी प्रसन्नताके लिये माँग।' प्रह्लादने कहा—'जब आप बार-बार माँगनेके लिये कहते हैं तो अवश्य ही मेरे मनमें माँगनेकी इच्छा छिपी है, यद्यपि मुझे नहीं दीखती। अतएव यदि मेरे हृदयमें कोई माँगनेकी इच्छा हो तो वह न रहे।' इस आख्यानका आधार भागवतमें है।

इस प्रसङ्गको किन्हीं महात्मासे इस प्रकार भी सुना है—प्रह्लादजीको जब भगवान्‌ने कुछ माँगनेके लिये कहा तो प्रह्लादजी बोले—'पहले आप वचन दीजिये।' भगवान्‌ने जब वचन दिया कि—'जो माँगोगे, दूँगा' तब प्रह्लादजी बोले—'आप सबका उद्धार कर दीजिये।'

भगवान्‌ने प्रश्न किया—'सबका पाप-पुण्य कौन भोगेगा?'

'मुझे भुगता दो।'

'तुमको कैसे भुगता दें?'

'तो सबको क्षमा कर दो।'

'पर सबका उद्धार कैसे हो?'

'फिर, जैसी आपकी इच्छा।'

एक क्षण रुककर भगवान् बोले—'जो मन, वाणी और शरीर—किसी प्रकारसे भी तुम्हारे संसर्गमें आ जायगा—दर्शन, स्पर्श, भाषण, कुछ भी करेगा, उसका उद्धार हो जायगा।'

तुलसीदासजी भी कहते हैं—

'मोरे मन प्रभु अस बिस्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा॥'

फिर कहते हैं—

'राम सिंधु घन सज्जन धीरा।'

जल समुद्रका ही है, पर जीवनके आधार तो बादल ही हैं, वे ही मीठा जल बरसाते हैं। मोर-पपीहे बादलको देखकर मुग्ध हो जाते हैं। बादल जल बरसाते हैं और भगवान्‌के भक्त प्रेम बरसाते हैं। वे वाणीके द्वारा सबको तृप्त कर देते हैं; क्योंकि जिज्ञासु लोग प्रेमकी बातें सुनना चाहते हैं। जगत्‌में बादल न होते तो समुद्रका जल हमारे क्या काम आता? हम तरसकर मर जाते। बादलके मुखमें आकर खारा जल मीठा हो

जाता है। भगवान्‌के भक्तोंके द्वारा भी अमृत-वर्षा होती है। यह प्रेमका दृष्टान्त है।

तुलसीदासजीने दूसरे स्थानपर कहा है—

'चंदन तरु हरि संत समीरा।'

चन्दनके वनमें जो वायु बहती है, वह चन्दनकी सुवासको आसपासके वृक्षोंमें ला देती है। इसी प्रकार संत-भक्त जगत्‌में भगवान्‌का वितरण करते हैं। वास्तवमें भगवान्‌की महिमा संसारमें भक्तोंको लेकर ही है।

भगवान्‌ने दुर्वासासे कहा—'अहं भक्तपराधीनो' 'मैं भक्तके पराधीन हूँ।' उद्धवसे कहा—'पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः।' 'मैं भक्तोंकी चरणरजसे पवित्र होता हूँ।' भगवान्‌ने ऐसा क्यों कहा? इसीलिये कि भगवान्‌का भक्त भगवान्‌की चरणधूलि चाहता है, अतएव भगवान्‌को भी यह चाह होती है, नहीं तो वे भक्तके ऋणसे छूटते नहीं। भक्त मानता है कि 'मैं भगवान्‌के अधीन हूँ', तो भगवान् अपनेको भक्तके अधीन मानते हैं। भक्त भगवान्‌का ध्यान करे तो भगवान् भक्तका ध्यान करते हैं—

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।'

—यह भगवान्‌की घोषणा है।

× × ×

'वैराग्य' बहुत ऊँची चीज है। भक्ति, योग, ज्ञान—सब मार्गोंमें यह बड़ा सहायक है। संसारमें वैराग्य—उपरति किसी भी कारणसे हो जाय, चाहे दोष देखकर, चाहे घृणाभावसे। किसी भी भाँति हो, विषयोंसे वृत्तियोंके हटनेकी आवश्यकता है। जिस समय वैराग्यकी झलक आती है, वृत्तियाँ संसारसे हट जाती हैं और सात्त्विक सुख मिलता है। वास्तवमें वैराग्यमें अलौकिक सुख होता है। वैराग्यवान् पुरुष हमलोगोंका व्यवहार देखकर ऐसे ही हँसते हैं, जैसे हम बालकोंकी क्रीड़ा देखकर हँसते हैं। बालकोंका खेलमें रमना और विषयी पुरुषोंका विषयमें रमना—एक-सी ही बात है।

वैराग्यका अर्थ बाहरी पदार्थोंका त्याग नहीं है। त्याग तो मनुष्य दम्भसे, हठसे तथा भयसे भी कर सकता है; त्याग वही उत्तम है, जो वैराग्ययुक्त हो। वैराग्य मनकी वृत्ति है, केवल वस्तुओंके त्यागमात्रसे वैराग्य नहीं हो जाता—'न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति।' प्रधानता भीतरी त्यागकी है। परमात्माकी प्राप्ति होनेपर तो आसक्तिका मूलसहित त्याग हो जाता है।

× × ×

सच्चा वैराग्य हो जानेपर परमात्माकी प्राप्तिमें विलम्ब नहीं होता। मन-बुद्धिका लगाव विषयोंसे हटकर परमात्मामें हो जाय तो परमात्माकी प्राप्ति हो जाय।

भगवान् अनन्य प्रेम चाहते हैं; हमारा प्रेम संसारमें बँटा है। जबतक संसारके भोगोंमें रस आता है, तबतक भगवान्‌में असली प्रेम कैसे हो सकता है? जगत्‌के विषयोंमें रस आनेसे ही तो मनुष्य क्रमशः गिरता-गिरता रसातलमें चला जाता है। संसारसे स्नेह हटाकर परमात्मामें लगाना ही एकमात्र उपाय है। दृढ़ वैराग्यरूपी शस्त्रद्वारा इस संसारवृक्षको काट डाले। राग-बुद्धिसे कभी इस संसारका चिन्तन ही न करे, इसको कभी मनमें स्थान ही न दे और भगवान्‌के शरणापन्न होकर भगवान्‌की खोज करता रहे। ध्यानके द्वारा परमात्माकी खोज करे।

संसारका वास्तविक स्वरूप यदि ठीक-ठीक समझमें आ जाय तो संसारसे ऐसा वैराग्य हो जायगा, जैसे मैलेसे हो रहा है।

भगवान्‌की शरण हो जानेपर अपनेमें दुर्गुण-दुराचार आ ही नहीं सकते। जैसे सूर्यकी शरण लेनेपर अन्धकार और शीत नहीं आ सकते, इसी प्रकार भगवान् जिसके हृदयमें विराजमान हैं, वहाँ दुर्गुण-दुराचार आ ही नहीं सकते। सूर्यके आश्रयसे गर्मी

और प्रकाश स्वाभाविक आते हैं—ऐसे ही भगवान्की शरण लेनेपर बिना प्रयास स्वाभाविक सद्गुण-सदाचार आ जाते हैं। ऐसा भाव दृढ़ निश्चय तथा परमात्माके आश्रयसे ही हो पाता है। यदि दुराचार-दुर्गुणके भाव आवें तो कातरभावसे 'हे नाथ! हे नाथ!' पुकारनेके साथ ही वे शान्त हो जायँगे। शरणागतिकी कमीके कारण अथवा गलत मान्यताके कारण ऐसा प्रतीत होने लगे कि ये भाव आये हैं तो—'हे नाथ! हे नाथ!'—पुकारना चाहिये। भगवान्की शरण हो जानेपर चिन्ता, भय, शोक, दुर्गुण, दुराचारका मूलसहित नाश हो जाता है। सद्गुण, सदाचार, शान्ति और आनन्द स्वभावसिद्ध हो जाते हैं। भगवान्की शरण होनेपर ये सब हो जायँ इसमें तो कहना ही क्या है; भगवान्के प्रेमियोंके सङ्गसे ही ये हो जाते हैं। उनके शरणसे, प्रेमसे, दयासे—यह सब हो सकता है। भगवान्की दयाके तत्त्वको जो समझ जाता है, उसके जीवनमें दया, गम्भीरता, शान्ति, सरलता अपने-आप आ जाती हैं; आनन्द, सच्चा सुख, समता आ जाती है। हमलोग लायक होंगे तो प्रभु आप ही प्रकट हो जायँगे।

प्रेम होनेपर कहींसे भी कीर्तनकी आवाज सुनते ही हृदयमें प्रेमकी जागृति हो जाती है। भगवद्भावयुक्त साधु-महात्माओंके दर्शनसे नेत्र ऐसे खिल जाते हैं, जैसे गुलाबका पुष्प। हमलोग प्रेमके नामपर यत्किंचित् चेष्टा करते हैं, परंतु वास्तवमें असली प्रेम तो अलौकिक है।

प्रेमको 'अनिर्वचनीय' कहा गया है। वहाँ वाणीकी, मनकी पहुँच नहीं है। जो प्रेमसे घायल हो जाता है, उसकी कोई औषध नहीं। स्वप्नमें भी भगवान् मिल जायँ तो उसके आनन्दकी क्या सीमा है!

महात्माका प्रभाव विलक्षण है। उनके प्रभावकी कोई सीमा नहीं है। महात्मा जैसा कह देते हैं, वैसा ही हो जाता है। ब्रह्माजीकी भी सामर्थ्य नहीं है कि वे महात्माकी बातको टाल सकें। उनके इशारेको भी कोई 'ना' नहीं कर सकता। जड भी उनकी आज्ञाको नहीं टाल सकते। च्यवन ऋषि अश्विनीकुमारोंको यज्ञमें भाग देने लगे, इसपर इन्द्रने वज्र मारना चाहा। ऋषिने हाथके इशारेसे वज्रको रोक दिया। बस, वज्र चल ही नहीं सका। पक्षी भी उनके इशारेको नहीं टाल सकते। इस सम्बन्धमें महाभारतके शान्तिपर्वको देखना चाहिये। अतएव महात्माका कोई संकेत भी मिल जाय तो धन्य-भाग्य है।

महात्माओंमें श्रद्धा और प्रेम होनेपर महात्माओंका आशीर्वाद और वर अपने-आप प्राप्त हो जाता है। किंतु श्रद्धा और प्रेम भगवान् तथा महात्माओंकी कृपासे ही होते हैं। कृपा ही सबसे बढ़कर चीज है। वास्तवमें ईश्वरकी कृपा और महात्माओंकी कृपा—दोनों एक ही बात है। उनकी कृपा तो है ही, उसपर विश्वास नहीं होता, इसीसे हम उससे वञ्चित रह जाते हैं।

× × × ×

एक बड़ी गोपनीय बात है—स्वप्नमें भगवान्के मिलनेपर और जाग्रत्में भगवान्के मिलनेपर जो आनन्द होता है—उन दोनोंमें बहुत अन्तर होता है। जाग्रत् अवस्थामें स्त्रीका दर्शन, भाषण होता है, उसीके अनुसार स्वप्नमें भी होता है। परंतु भगवान् तो अबतक जाग्रत्में प्रत्यक्षरूपमें मिले नहीं हैं। अतएव स्वप्नमें जो भावनासे भगवान् दीखते हैं, जाग्रत्में वास्तवमें मिलनेपर वह दर्शन उससे बहुत ही विलक्षण होता है। जिस पदार्थका हमने अनुभव नहीं किया है, उसके स्वप्नसे वह असली वस्तु विलक्षण होती है।

हमलोगोंको भगवान्से प्रेम करना सीखना चाहिये। इतना प्रेम कि बाध्य होकर प्रभुको आना पड़े। भगवान्के निमित्तसे हम जो प्रेम बढ़ायेंगे, उसका फल भगवान्

देंगे। प्रेमीका भगवान् कभी त्याग नहीं करते। असली प्रेमियोंकी बड़ी आवश्यकता है; प्रेमी बहुत कम मिलते हैं। सर्वस्व देनेपर यदि एक रत्ती भगवत्प्रेम मिले तो सर्वस्व दे डालना चाहिये। रत्नका वास्तविक मूल्य जौहरी ही जानता है। लाख रुपयेके हीरेका एक साग-सब्जी बेचनेवाली चार पैसे भी नहीं देती। कहती है—'यह काँचका टुकड़ा क्या काम आयेगा।' पर रत्नके पारखी जौहरी बहुत बड़ा मूल्य दे देते हैं। इसी प्रकार भगवत्प्रेमको पहचाननेवाले जौहरी लोग एक रत्ती भगवत्प्रेमके लिये सर्वस्व दे डालते हैं। जो जितना कम मूल्य देना चाहते हैं, वे उतना ही भगवान्के प्रेमके तत्त्वको नहीं जानते। जिस क्रियाके करनेसे भगवान्में प्रेम हो, प्रेमी वही क्रिया करता है।

स्वार्थके त्यागसे प्रेम मिलता है। भगवत्प्रेमीके अनुकूल बननेसे भी प्रेमकी प्राप्ति होती है। यदि कोई भगवान्का भजन-ध्यान करता है, तो उसके भजन-साधनमें सहायक होकर भी हम भगवान्का प्रेम प्राप्त कर सकते हैं। अपने सच्चे प्रेमीके सङ्गके लिये तो भगवान् भी लालायित रहते हैं। जहाँ भगवत्-प्रेमी-की आज्ञाका पालन करनेके लिये हम अपना सर्वस्व देनेके लिये तैयार होते हैं, वहाँ भगवान् हमारे हाथों बिक जाते हैं।

आस्तिकताकी आधारशिलाएँ

भगवान्की कृपा चाह करनेपर ही प्रकाशित होती है

सोचें—एक-न-एक दिन इस शरीरसे हमारा सम्बन्ध छूट ही जायगा, फिर भी इतनी मूर्खता क्यों होती है कि इसके पीछे भगवान् ही हमसे छूट जाते हैं। यहाँ कोई भी ऐसी चीज नहीं, जिससे हमारा कुछ भी सम्बन्ध रहे; फिर भगवान्को छोड़ना तो महान् मूर्खता है।

भक्तलोग एक काम किया करते हैं—वे भगवान्से अपना कोई सम्बन्ध जोड़ लेते हैं। अर्थात् 'भगवान् मेरे स्वामी हैं, मैं उनका दास हूँ', 'भगवान् मेरे सखा हैं, मैं उनका मित्र हूँ', 'भगवान् मेरे पुत्र हैं, मैं उनका पिता या उनकी माता हूँ', 'भगवान् मेरे पति हैं, मैं उनकी पत्नी हूँ', 'भगवान् मेरे प्रेमास्पद हैं, मैं उनकी प्रेयसी हूँ।' कहनेका मतलब यह है कि जो सम्बन्ध बहुत प्यारा लगे, उसे मानकर ठीक उसीके अनुसार चौबीसों घंटे व्यवहार करना शुरू कर दें; फिर भगवान् जल्दी या देरसे उसके इसी सम्बन्धको मानकर उसे प्रकट कर देते हैं, अर्थात् ठीक-ठीक उसे यह अनुभव होने लगता है कि 'भगवान् मेरे यहीं हैं'।

यही बात संत लोग कहते हैं और यही सभी वैष्णव-शास्त्रोंका निचोड़ है। ऐसा करनेसे होता यह है कि फिर मनको जबर्दस्ती चौबीस घंटेमें बार-बार सेवाके लिये भगवान्के सामने जाना पड़ता है और फिर धीरे-धीरे वह बिल्कुल तन्मय हो जाता है। जैसे कोई भगवान्का सखा है तो वह सुबह उठनेसे लेकर रातमें सोनेतक श्रीश्यामसुन्दरके साथ अथवा भगवान् श्रीरामके साथ रहेगा। भगवान् खायेंगे, तब वह खायेगा, नहायेंगे, तब नहायेगा; खेलेंगे, तब खेलेगा; सोयेंगे, तब सोयेगा। कभी वनमें घूमेगा, कभी घरमें रहेगा, कभी कुछ खेल, कभी कुछ खेल—इस प्रकार दिन-रात मनसे तो वहाँ लगा रहेगा तथा बाहरी रूपमें निरन्तर नाम लेता रहेगा, गुण-लीला आदि सुनता-पढ़ता रहेगा। जब इस प्रकारकी साधना तत्परतासे चलती है, तब भगवान्की कृपासे मन लगना कोई बड़ी बात नहीं है। पर जब हम स्वयं—'हुआ तो हुआ, नहीं हुआ तो परवा नहीं'—इस प्रकारकी मुद्रा रखते हैं तो भगवान्-को गरज तो है नहीं कि वे हमारे पीछे पागल होकर

घूमते रहें। यद्यपि भगवान् किसी साधनाके द्वारा नहीं मिलते, वे जब भी मिलते हैं तो अपनी कृपासे ही मिलते हैं, मन भी उनमें लगता है तो उनकी कृपासे ही लग सकता है, पर चाह तो हमको करनी पड़ेगी। यदि हम नहीं चाहें और बिना चाहे हमारा मन लग जाय तो बेचारे एक मिलमें काम करनेवाले मजदूरने क्या अपराध किया कि उसका मन न लगे? क्योंकि भगवान्‌के लिये तो सब समान हैं। इसीलिये शास्त्रोंमें यह बात कही जाती है कि 'भगवान्‌की पूर्ण कृपा सबपर सर्वथा समान रहती है, पर वह चाह करनेपर ही प्रकाशित होती है।'

यह ठीक है कि जिसे सत्सङ्ग—सच्चे महापुरुषका सङ्ग—मिल गया है, उसे श्रीभगवान्‌की कृपाका दर्शन होनेकी बात निश्चित हो गयी है; पर यदि हम कुछ तत्परता दिखलायें तो इससे भी जल्दी हो जाय।

श्रीचैतन्य महाप्रभु कहते हैं—"सनातन! बिना महापुरुषोंकी कृपा हुए किसीको भक्ति मिल ही नहीं सकती। श्रीकृष्ण-भक्तिकी प्राप्ति तो ऊँची बात है, बहुत दूरकी बात है, भवबन्धका नाश भी बिना महापुरुषकी कृपा हुए हो ही नहीं सकता। सभी शास्त्रोंमें 'साधुसङ्ग-साधुसङ्ग' बस, यही बार-बार कहा गया है। यदि क्षणमात्रके लिये भी साधुसङ्ग प्राप्त हुआ कि फिर तो सभी काम निश्चय सिद्ध हो जाते हैं।"

फिर आगे चलकर कहते हैं—"जब मनुष्यका कोई अत्यन्त सुन्दर भाग्य जाग उठता है, तब उसमें पहले भगवान्‌के प्रति टान होती है और तब वह महापुरुषोंके सङ्गमें जा पहुँचता है। महापुरुषका सङ्ग होते ही उसके द्वारा भजनकी क्रिया—अर्थात् श्रवण-कीर्तन आदि होने लगते हैं। श्रवण-कीर्तन होते-होते सभी दोष दूर हो जाते हैं और सभी दोष दूर होनेपर भक्तिमें निष्ठा उत्पन्न होती है। निष्ठा होनेपर तब भगवान्‌के गुण-लीला आदिके श्रवण-कीर्तनमें रुचि उत्पन्न होती है। रुचि होनेके बाद फिर इसमें अत्यन्त आसक्ति हो जाती है। आसक्ति होनेपर फिर मनमें भगवान्‌के प्रति प्रीतिका अङ्कुर उत्पन्न होता है। यही प्रीतिका अङ्कुर जब गाढ़ हो जाता है तो इसे 'प्रेम' कहते हैं और यही सभी आनन्दको देनेवाली वस्तु है।"

पापोंको यथाशक्ति छोड़ते हुए तत्परतासे भजनमें लगें

हमारे मनमें जो प्रभुको पानेकी अभिलाषा उठती है, वह बड़ी सुन्दर है, पर इसको बड़ी सावधानीसे—जैसे पेड़में धीरे-धीरे जल देकर उसे पाला जाता है, उसी प्रकार इस अभिलाषाको भी पुष्ट करना पड़ेगा। इसकी सबसे पहली सीढ़ी है—भगवान्‌की कृपाका भरोसा करके सब प्रकारके पापोंका सर्वथा त्याग कर देना। पाप करनेसे केवल हमारा ही सर्वनाश होगा; इतना ही नहीं, उस पापमें जो-जो सहायक होंगे, उन सबका सर्वनाश होगा। मूर्खतावश लोग इसको समझते नहीं। पिता, भाई, माँ—किसीके भी कहनेसे पाप किया जाय, उनके सहित पाप करनेवालेका सर्वनाश हो ही जायगा। इसलिये शास्त्रमें यह बात आती है कि 'यदि पिता-माता भी पापकी आज्ञा दें तो उसका पालन नहीं करे।' अतः यदि हम सचमुच प्रभुको पाकर कृतार्थ होना चाहते हैं तो सबसे पहले मनको कड़ा करके सब प्रकारके असत्य, झूठ, चोरी, व्यभिचार, हिंसा आदि पापोंका सर्वथा त्याग कर दें। यह पहली सीढ़ी है। इसके बिना ऊपर चढ़ना बड़ा कठिन है। हम निश्चयपूर्वक छोड़ना चाहेंगे तो स्वयं प्रभु हमारी सहायता करेंगे, पूर्ण सहायता करेंगे। हमारा यह निश्चय होना चाहिये कि 'प्राण भले ही चले जायँ, पर पाप नहीं करूँगा।' इसी निश्चयके साथ जोरसे भजन शुरू कर देना चाहिये—यह दूसरी सीढ़ी है। निश्चय पूरा नहीं

होता, इसलिये भूलसे पाप फिर भी हो जा सकते हैं, पर भजन यदि चलता रहा तो अपने-आप आत्म-बल आयेगा और प्रभुकी कृपासे सभी पाप छूट जायँगे। पर मनमें यह निश्चय होना चाहिये कि 'मुझे पाप नहीं ही करना है।'

इस प्रकार पापोंको छोड़कर भजन करनेपर जिस दिन भजनमें मन लगने लगेगा, उसी दिनसे अपने-आप भगवान्‌की एवं महापुरुषोंकी महिमा समझमें आने लगेगी। उसके पहले केवल सुनी-सुनायी बातको ही हम अपना आधार मानकर चलें। वास्तविक भगवान् क्या हैं और महापुरुष क्या हैं—यह बात अन्तःकरण सर्वथा पवित्र होकर जब निरन्तर सहज प्रेमपूर्वक भजन होने लगता है, तभी समझमें आती है। इसके पहले हमारी जो कल्पना है, वह उनके बाहरके रूपकी है। असली बात न कोई बता सकता है और न सुनकर समझमें आ सकती है।

किसी भी सच्चे संतके विषयमें हमने जो कुछ भी सुना है और जो कुछ भी कल्पना करते हैं, वह उनके बाहरके रूपकी बात है। उनका वास्तविक स्वरूप बिना भजन किये न तो हम समझ सकेंगे और न उनसे पूर्ण लाभ ही उठा सकेंगे। भगवान्‌की कृपा, भक्तकी कृपा एवं भजन—इन तीनों बातोंके सिवा और किसी प्रकारसे भगवान्‌को तथा भक्तको समझना असम्भव है। पर भगवान्‌की एवं भक्तकी पूर्ण दया है—हम बिलकुल ठीक मानें। इस दयाका अनुभव केवल भजनके द्वारा हो सकता है; इसके सिवा दूसरा उपाय नहीं है। सच्चे संतके विषयमें किसीसे भी बहुत ऊँची-ऊँची बातें सुन सकते हैं, पर उनको समझना अथवा उनसे लाभ उठाना केवल भजनके द्वारा ही हो सकता है। संतके विषयमें आपको जो कुछ भी कोई कहते हैं, वह सब-का-सब उनके बहुत तुच्छ स्वरूपका वर्णन है, वे इन सबकी अपेक्षा बहुत ऊँचे हैं। फिर स्वयं भगवान् या संत बिना संकोच समझायेंगे। जो बात सुननेको मिले—कोई भी कहे, सुन लें, पर असलमें लाभ उठानेकी इच्छा हो तो पापोंको यथाशक्ति सर्वथा छोड़ते हुए तत्परतासे निरन्तर भजनमें लगें। फिर बिना किसीके बताये, बिना किसीके सुनाये, सब बात हम समझ जायँगे। स्वयं भगवान् गरज करके हमको समझायँगे।

सच्चे संतके सम्बन्धकी बातें समझानेकी नहीं हैं। यदि कोई किसीको समझाने चले तो कभी-कभी लाभके बदले हानि हो सकती है। घी बहुत अच्छी चीज है, पर संग्रहणीकी बीमारीमें अवगुण करता है। इसलिये जबतक मनमें पाप हैं, तबतक प्रेमकी ऊँची-ऊँची बातोंको सावधानीसे सुनना चाहिये। संतके सम्बन्धकी बातोंका भी फल उल्टा हो सकता है।

नाम लेनेसे ही भगवान् एवं महात्मा—दोनों प्राणोंसे बढ़कर प्यारे लगने लग जायँगे

निरन्तर भगवान्‌का नाम लीजिये। कोई भी आवे, कम-से-कम बोलकर उसका सत्कार कर दीजिये, फिर कंजूसके धनकी तरह एक-एक क्षण नाममें लगाइये। इसके बिना महात्माओंका सच्चा रूप समझमें आना कठिन है। जितना अधिक भजन कीजियेगा, उतना ही अन्तःकरणमें भगवान् एवं महापुरुषोंका सच्चा रूप चमकेगा। एक ही दवा है—निरन्तर नाम-जप। जहाँतक हो, कानसे नाम सुनिये।

सत्सङ्गका फल है—भजन, भजनका फल है—सत्सङ्ग। ये दोनों क्षण-क्षणमें बढ़ते रहने चाहिये। सारी कमी भजनकी है। यों तो भगवान् एवं महापुरुष जब चाहें, उसी क्षण वे आपको अपने समान बना ले सकते हैं, पर यदि आपको बना लें, तब फिर भजन करनेवालेके प्रति अन्याय होगा; जो दिन-रात भगवान्‌का नाम लेकर, उन्हें याद करके आँसू बहाता है, उसका सम्मान कम हो जायगा।

संतकी कृपा पूर्ण है। अन्तःकरण मलिन होनेके कारण ही हमलोग उसे समझ नहीं पाते। नाम लेनेसे

जैसे-जैसे अन्तःकरण शुद्ध होगा, वैसे-वैसे भगवान् एवं महात्मा—दोनों प्राणोंसे बढ़कर प्यारे लगने लग जायँगे, फिर संतका सङ्ग इतना अधिक प्यारा लगेगा कि वियोगकी सम्भावनासे प्राण सूख जायँगे। अभी अमुक-अमुक स्थान प्यारे लगते हैं, फिर दिन-रात वही स्थान प्यारा होगा, जहाँ महापुरुषोंका चरण टिकता है।

आपमें जितनी शक्ति हो, उतनी-की-उतनी पूरी शक्ति लगाकर निरन्तर भगवान्का नाम लेनेकी चेष्टा कीजिये; पूरा तो उनकी कृपासे ही होता है।

भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं कहा है—

श्रद्धया हेलया नाम रटन्ति मम जन्तवः।
तेषां नाम सदा पार्थ वर्तते हृदये मम॥

'हे अर्जुन! चाहे श्रद्धासे या बिना श्रद्धाके ही—उपेक्षामें मेरे नामकी रट लगानेवालेका नाम मेरे हृदयमें सदा वर्तमान रहता है।'

भागवतमें आया है—'जिसके मुँहमें, हे भगवन्! तुम्हारा नाम है, उसने सब तपस्या कर ली, सब यज्ञ कर लिये, तीर्थ-स्नान कर लिया, सब गुणोंका संयम कर लिया, यहाँतक कि वेदपारायण भी उसने कर लिया।'

दुनियामें भगवान्के नामको लेनेसे बड़ा कोई काम नहीं है।

यों तो प्रभु निरन्तर आपको याद रखते ही हैं, (वे किसीको भी नहीं भूलते) पर नाम रटनेसे विशेष-रूपसे उनकी कृपा आपको दीखने लग जायगी। कृपा तो अभी भी पूर्ण है, पर वह आपको दीख नहीं रही है। भजन करनेसे ही वह दिखायी देगी।

जरा तं नोपगच्छति

(लेखक—तत्त्वचिन्तक अनन्तश्री स्वामीजी श्रीअनिरुद्धाचार्य वेंकटाचार्य महाराज)

'ब्रह्मवैवर्तपुराण'के १६वें अध्यायमें भगवान् विष्णु और सती मालावतीके संवादमें मानवको अकालमें जरा और मृत्युकी प्राप्ति न हो, इसके लिये कतिपय सरल एवं अमोघ उपायोंका निर्देश किया गया है, जिनके पालनसे मानव अजर एवं अमर बन सकता है। वेदोंने असमयमें जराग्रस्त न होनेवाले नीरोग मानवको अजर और अमर माना है।

इस प्रसङ्गमें भगवान् विष्णुने आयुर्वेदकी उत्पत्तिका इतिहास, आयुर्वेदके विद्वानोंकी परम्परा, रोगोंके मूल कारणों, रोगों एवं उनके समूल नाशके सुलभ, प्राकृत तथा अन्वर्थ उपायोंका उल्लेख किया है, जिनका निर्देश अनुपदमें होगा।

आयुर्वेदका निर्माण

भगवान् विष्णुने कहा कि सती मालावति! प्रजापतिने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद—इन चारों वेदोंको देखकर आयुर्वेदका निर्माण किया है। इसे आयुकी रक्षा करने एवं आयुनाशक रोगोंका निग्रह करनेके कारण 'आयुर्वेद' कहा जाता है। वेदोंसे उद्धृत होनेके कारण यह 'उपवेद' कहलाता है। 'आयु' नामक पदार्थ प्राणियोंको सूर्यसे प्राप्त होता है, जो जीवनका मुख्य कारण है। इसकी यदि रक्षा की जाय तो ऋषि ऐतरेयके मतमें मानव ११६ अथवा इससे भी कहीं अधिक १४० वर्षतक जीवित रह सकता है। आयु-रक्षाके लिये दिनचर्या, रात्रि-चर्या एवं ऋतुचर्या आदि रूपोंमें अनेक उपायोंका निर्देश आयुर्वेदमें उपलब्ध है।

आयुर्वेदका लक्ष्य

आयुर्वेद केवल मनुष्य-प्राणीकी चिकित्सातक ही सीमित नहीं रहा है, अपितु उसने पक्षियों, पशुओं और वृक्षोंकी चिकित्साका भी विधान किया है। अतः प्राचीन आर्योंने आयुर्वेदके मनुष्यायुर्वेद, गवायुर्वेद, हस्त्यायुर्वेद, छागायुर्वेद, शुनकायुर्वेद और वृक्षायुर्वेद आदि अनेक प्रस्थान माने हैं।

चिकित्साके तीन प्रकार

आसुरी, मानुषी और दैवी भेदसे चिकित्सा तीन प्रकारकी है। इनमें शल्य-चिकित्सा 'आसुरी चिकित्सा' है। इसे ही आँग्ल प्राकृतभाषामें 'सर्जरी' कहते हैं। अतः विश्वकी

यह धारणा भ्रान्त है कि 'शल्यचिकित्साका उद्गम-स्थल केतुमाल (यूरोप) है।' जर्मन विद्वान् डा० अल्बर्ट वेबरने स्वीकार किया है कि 'पूर्वसे आनेवाले ज्ञान-विज्ञान ग्रन्थोंमें आयुर्वेद भी अन्यतम है। हमने शल्यचिकित्सा (सर्जरी) का ज्ञान उसीसे प्राप्त किया है।'

शुण्ठी, पिप्पली और हरीतकी आदि ओषधियोंसे की जानेवाली चिकित्सा 'मानुषी चिकित्सा' है।

पारदसे की जानेवाली चिकित्सा 'दैवी चिकित्सा' है। जो क्लिष्ट रोग आसुरी और मानुषी चिकित्सासे नष्ट नहीं होते, वे भी दैवी चिकित्सासे समूल नष्ट हो जाते हैं। इस चिकित्सामें प्रवीण मानवोंका उद्घोष है कि विश्वमें ऐसा कोई रोग नहीं है, जो दैवी चिकित्सासे असाध्य हो।

कतिपय विद्वानोंने यन्त्र, मन्त्र और तन्त्रसे की जानेवाली चिकित्साको भी 'दैवी चिकित्सा' माना है। उनका भी यह मत यथार्थ है। यन्त्र, तन्त्र और मन्त्र—ये सब विद्युत्‌के ही रूपान्तर हैं। विद्युत् वज्र है। विश्वका कोई भी पदार्थ वज्रसे अभेद्य नहीं है। अतः पारदचिकित्सा और मन्त्र-चिकित्सा—दोनों चिकित्साएँ दैवी चिकित्सा हैं।

इतिहास-परम्परा

'ब्रह्मवैवर्तपुराण'में आयुर्वेदकी लोकमें प्राप्तिकी परम्पराका इतिहास इस प्रकार है। चारों वेदोंसे आयुर्वेदका निर्माण करके ब्रह्माने उसको भास्करको पढ़ाया और ग्रन्थरूपमें भी दिया। भास्करने भी उसके आधारसे एक स्वतन्त्र ग्रन्थका निर्माण किया, जिसका नाम 'भास्करसंहिता' है। उसको अपने सोलह शिष्योंको पढ़ाया और ग्रन्थरूपमें भी दिया। भास्करके शिष्योंने भी इन दोनों ग्रन्थोंको मूल मानकर अपने-अपने स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे, जिनके नाम ये हैं—

शिष्यों और ग्रन्थोंके नाम

भास्करके शिष्यों तथा उनके द्वारा निर्मित आयुर्वेदके ग्रन्थोंके नाम ये हैं—'धन्वन्तरि', 'दिवोदास', 'काशीराज', 'अश्विनीकुमार', 'नकुल', 'सहदेव', 'च्यवन,' 'जनकराजा', 'बुध', 'जाबाल', 'जाजलि', 'पैल', 'करभ', 'यम' और 'अगस्त्य'।

इनमें धन्वन्तरिने 'चिकित्सातत्त्वविज्ञान', दिवोदासने 'चिकित्सादर्पण', काशीराजने 'चिकित्साकौमुदी'। अश्विनी-कुमारोंने 'चिकित्सासारा', नकुलने 'वैद्यकसर्वस्व', सहदेवने 'व्याधिसिन्धुमर्दन', यमराजने 'ज्ञानार्णव', च्यवनने 'जीवदान', योगी जनकने 'वैद्यसंदेह-भञ्जन', चन्द्रपुत्र बुधने 'सर्वसार', जाबालने 'तन्त्रसार', जाजलिने 'वेदाङ्गसार', पैलने 'निदान', करभने 'सर्वधर' और ऋषि अगस्त्यने 'द्वैधनिर्णय' ग्रन्थ लिखा है। इन ग्रन्थोंमें च्यवनका 'जीवदान', योगी जनकका 'वैद्यसंदेह-भञ्जन', करभका 'सर्वधर' और ऋषि अगस्त्यका 'द्वैधनिर्णय' ग्रन्थ विशेष महत्त्व रखते हैं।

वैद्यका वैद्यत्व

आर्योंने वैद्यके वैद्यत्वका स्वरूप यह माना है। ब्रह्मवैवर्त पुराण (ब्रह्मा०अ-१६ । २५-२६)के शब्दोंमें वैद्यत्वकी परिभाषा यह है—

> व्याधेस्तत्त्वपरिज्ञानं वेदनायाश्च निग्रहः।
> एतद् वैद्यस्य वैद्यत्वं न वैद्यः प्रभुरायुषः॥
> आयुर्वेदस्य विज्ञाता चिकित्सासु यथार्थवित्।
> धार्मिकश्च दयालुश्च तेन वैद्यः प्रकीर्तितः॥

अर्थात् 'व्याधिका परिज्ञान और वेदनाका निग्रह—ये दोनों वैद्यका वैद्यत्व है। आयुर्वेदका परिज्ञान, चिकित्साका यथार्थ ज्ञान, धर्मशीलता और दया—ये भी वैद्यके वैद्यत्व हैं। ये वैद्यके लक्षण भी हैं।' चरकमें आर्यभिषजोंके लक्षण, भाषा और रहन-सहन आदिका सुन्दर वर्णन है।

ज्वरका जनक मन्दाग्नि

ब्रह्म वैवर्त पुराण मन्दाग्निको ज्वरका जनक मानता है। मन्दाग्निके भी जनक तीन हैं—विकृत कफ, पित्त और वात। निर्दोष ये तीनों प्राणियोंके जीवन हैं, परंतु सदोष (कुपित) ये प्राणियोंकी मृत्यु भी हैं। इन तीनोंसे भिन्न-भिन्न तीन ज्वरोंकी उत्पत्ति होती है, जिनके नाम 'वातज्वर', 'पित्तज्वर' और 'कफज्वर' हैं। इन तीनोंके संनिपातसे एक चौथा भी ज्वर उत्पन्न होता है, जिसको 'संनिपात ज्वर' कहते हैं।

चतुःषष्टि रोग

इन चारों प्रकारके ज्वरोंसे ६४ प्रकारके रोग उत्पन्न होते हैं, जिनके नाम ये हैं—पाण्डुरोग, कामलारोग, कुष्ठ-रोग, शोथरोग, प्लीहारोग, शूलरोग, ज्वर, अतिसार, संग्रहणी, कास, व्रण, हलीमक, मूत्रकृच्छ्र, गुल्म, रक्तदोष, विषमेह, कुब्ज, मेद, गलगण्डक, भ्रमरी, संनिपात और विसूची आदि हैं।

इनमें व्रणरोग और रक्तदोष—ये दोनों विशेष व्याख्या-की अपेक्षा रखते हैं। यहाँपर 'व्रण' शब्दका अर्थ 'नाडीव्रण'

है, जिसको आजकल आङ्ग्लभाषामें 'कैन्सर' कहते हैं। रक्त-दोषका अर्थ है—रक्तमें उष्णताकी वृद्धि अथवा ह्रास। आजकलके चिकित्सक इसको 'ब्लडप्रेशर' कहते हैं। यह ब्लडप्रेशर हाई ब्लडप्रेशर तथा लो ब्लडप्रेशर भेदसे दो प्रकारका है।

ये सब रोग मृत्युकन्या (विच्युति) के पुत्र हैं। मृत्युकी 'जरा' भी एक कन्या है। मृत्युके पुत्र 'रोग' और उसकी पुत्री 'जरा'—ये सब भाई-बहन शश्वत् भूतलमें भ्रमण करते रहते हैं।

मृत्युकन्यासुताश्चैते जरा तस्याश्च कन्यका।
जरा च भ्रातृभिः सार्धं शश्वद्भ्रमति भूतलम्॥

(वही १६। ३४)

संयमसे जरा और रोग दूर रहते हैं

विश्वमें जरा और रोग सतत भ्रमण करते रहते हैं। परंतु ये कदापि संयमशील और उनके दूर रखनेके उपायोंके ज्ञाताके पास नहीं आते हैं। उनसे ये सदा ही डरते रहते हैं। जिन उपायोंसे जरा और रोग दूर रहते हैं, पुराणने उनका निर्देश इस रूपमें किया है—

चक्षुर्जलं च व्यायामः पादाधस्तैलमर्दनम्।
कर्णयोर्मूर्ध्नि तैलं च जरा व्याधिविनाशनम्॥
वसन्ते भ्रमणं वह्निसेवां स्वप्नं करोति यः।
बालां च सेवते काले जरा तं नोपगच्छति॥
खातशीतोदकस्नायी सेवते चन्दनद्रवम्।
नोपयाति जरा तं च निदाघेऽनिलसेवकम्॥
प्रावृष्युष्णोदकस्नायी घनतोयं च सेवते।
समये च समाहारी जरा तं नोपगच्छति॥
शारदौद्रं न गृह्णाति भ्रमणं तत्र वर्जयेत्।'
खातस्नायी समाहारी जरा तं नोपगच्छति॥
खातस्नायी च हेमन्ते काले वह्निं च सेवते।
भुङ्क्ते नवान्नमुष्णं च जरा तं नोपगच्छति॥
शिशिरेऽशुकवह्निं च नवोष्णान्नं च सेवते।
यश्च चोष्णोदकस्नायी जरा तं नोपगच्छति॥

(वही, १६। ३६—४२)

अर्थात् आँखोंमें जलसिंचन, व्यायाम, पादतलमें तैल-मर्दन, कानोंमें तैल डालना तथा मस्तकमें तैल मलना—ये जरा और व्याधिका विनाश करनेवाले हैं। तथा वसन्त-कालमें भ्रमण, अग्निसे तपना, समयपर सोना—ये सब जराको दूर भगाते हैं। जब जरा दूर रहती है, तब उसके भाई रोग भी दूर रहते हैं। कारण कि रोगमात्र जराके सहचारी हैं। अर्थात् रोगोंका आगमन जराद्वारा ही होता है। जो शारीरिक वैश्वानर अग्निको शीर्ण कर दे, वह 'जरा' है। वैश्वानर अग्निके मन्द (जीर्ण) होनेपर अनेक रोगोंका उद्भव शरीरमें हो जाता है। ब्र० वै० पुराणके मतमें जो मानव इन निम्नलिखित नियमोंका पालन करता है, उसको अकालमें जराकी प्राप्ति नहीं होती है।

उष्णकालमें कूपजलसे स्नान, चन्दनका लेप और सम-शीतोष्ण वायुका सेवन—ये कार्य जराको दूर भगाते हैं। अर्थात् ऐसे मानवोंके पास जरा नहीं आती है।

वर्षाकालमें उष्णोदकसे स्नान, बादलोंके जलका पान, समयपर सम-आहार—ये सब उपचार जराको दूर भगा देते हैं।

शरत्कालमें सूर्यातपका ग्रहण, असमयमें भ्रमण न करना, कूपजलसे स्नान और सम-आहारका सेवन—इन सब उपायोंसे जरा दूर रहती है।

हेमन्तऋतुमें कूप-स्नान, अग्नि-सेवा, नवान्न और उष्णान्न-सेवन—ये सब उपाय जराको दूर करते हैं।

शिशिरऋतुमें वस्त्रोंका परिधान, अग्नि-सेवन, नवीन और उष्ण अन्नका सेवन, क्षीर और घृतका सेवन—ये सब उपाय असमयमें आनेवाली जराको दूर करते हैं।

किं बहुना, सब ऋतुओंमें जो क्षुत्कालमें सदन्नका भोजन करता है, तृषा लगनेपर पानी पीता है, प्रतिदिन ताम्बूलका भक्षण करता है, हैयङ्गवीन (ताजा) दधि और नवनीत एवं गुड़का प्रतिदिन उपयोग करता है, उसको जरा और रोग सहसा नहीं पकड़ सकते। संयमीके पास जरा भूलकर भी नहीं जाती है। यह जराके स्वभावसे सिद्ध होता है।

जराके कारण

निम्नलिखित कारण असमयमें जरा और रोगोंके भी प्रवर्तक होते हैं। ब्रह्मवैवर्तपुराणके शब्दोंमें उन कारणोंकी परिगणना इस प्रकार है—

शुष्कमांसं स्त्रियं वृद्धां बालार्कं तरुणं दधि।
संसेवन्तं जरा याति प्रहृष्टा भ्रातृभिः सह॥
रात्रौ ये दधि सेवन्ते पुंश्चलीश्च रजस्वलाः।
तानुपैति जरा हृष्टा भ्रातृभिः सह सुन्दरि॥
रजस्वला च कुलटा चावीरा जारदूतिका।
शूद्रयाजकपत्नी च ऋतुहीना च या सति॥
यो हि तासामन्नभोजी ब्रह्महत्यां लभेत्तु सः।
तेन पापेन सार्द्धं सा जरा तामुपगच्छति॥
पापानां व्याधिभिः सार्द्धं मित्रता संततं ध्रुवम्।

पापं व्याधिजराबीजं विघ्नबीजं च निश्चितम् ॥
पापेन जायते व्याधिः पापेन जायते जरा ।
पापेन जायते दैन्यं दुःखं शोको भयं तथा ॥

(वही—१६ । ४६, ५१)

अर्थात् 'शुष्क मांस, वृद्धा स्त्री, बालसूर्य, तरुण दधि—इनके सेवनसे जरा प्रसन्न होकर अपने भ्राताओं (रोगादि) के साथ आ जाती है। जो रात्रिमें दधिका सेवन करते हैं उनको भी जरा अभिभूत कर लेती है। कुलटा स्त्रियों, रजस्वला स्त्रियोंका सहवास भी जराका प्रधान कारण है। पापोंके साथ रोगोंकी मित्रता है; कारण कि पापोंमें व्याधि, जरा, मृत्यु और विघ्नोंके निश्चितरूपसे बीज रहते हैं। मर्यादाभंग (पाप) से निश्चित ही रोग उत्पन्न होते हैं। पापसे ही अकालमें जराकी प्राप्ति होती है। पाप (अनाचार) से दैन्य, दुःख, शोक और भीषण भयोंकी प्राप्ति होती है।'

इन दोषोंसे बचनेके लिये दोषोंके बीजरूप महावैरी अमङ्गल पापका सेवन नहीं करना चाहिये। कारण कि पापाचरणसे वात, पित्त और कफरूप तीनों आध्यात्मिक अग्नियाँ दूषित—क्षुब्ध हो जाती हैं। कुपित ये अग्नियाँ अनेक रोगोंको उत्पन्न करती हैं। जराके साथ रोगोंको भी आमन्त्रित करती हैं। इस प्रकार जरा और रोगोंका मूल बीज पाप (कदाचार) ही है।

अजर-अमर मानव

वेदोंकी परिभाषामें असमयमें जरा-रहित मानव अजर तथा रोगरहित मानव अमर माना गया है। इस अजरता एवं अमरताके मुख्य कारण ये हैं—

स्वधर्माचारयुक्तं च दीक्षितं हरिसेविनम् ।
गुरुदेवातिथीनां च भक्तं सक्तं तपःसु च ।
व्रतोपवासयुक्तं च सदातीर्थनिषेवकम् ।
रोगा द्रवन्ति तं दृष्ट्वा वैनतेयमिवोरगाः ॥
एता जरा न सेवेत व्याधिसंघश्च दुर्जयः ।

(वही, १६ । ५३-५४½)

अर्थात् 'स्वधर्ममें तत्पर, वैष्णवी आदि दीक्षाओंसे दीक्षित, हरिभक्त, गुरुदेव और अतिथियोंके भक्त, तपस्वी, व्रत और उपवासमें संलग्न, तीर्थों (माता-पिता आदि) की सेवामें तत्पर मानवको देखकर जरा और रोग दूर भाग जाते हैं। अर्थात् इनके पास जरा और दुर्जय रोगोंका समूह नहीं आता।'

दोषोंकी उत्पत्ति और विनाशके कारण

जिन-जिन मुख्य कारणोंसे दोष उत्पन्न और विनष्ट होते हैं, उनका निर्देश यहाँ किया जाता है। उनमें प्रथम पित्त-दोषके कारणोंका परिगणन ब्रह्मवैवर्तपुराणमें इस प्रकार है—

क्षुधि जाज्वल्यमानायामाहाराभाव एव च ।
प्राणिनां जायते पित्तं चक्रे च मणिपूरके ॥
तालबिल्वफलं भुक्त्वा जलपानं च तत्क्षणम् ।
तदेव तु भवेत् पित्तं सद्यःप्राणहरं परम् ॥
तप्तोदकं च शरदि भाद्रे तिक्तं विशेषतः ।
ईषत्प्रातश्च यो भुङ्क्ते पित्तं तस्य प्रजायते ॥

(वही, १६ । ५९-६०)

अर्थात् 'बुभुक्षाके प्रज्वलित होनेपर आहारका अभाव प्राणियोंके मणिपूरक-चक्रमें पित्त उत्पन्न करता है। तालफल और बिल्वफलको पाकर (खाकर) तत्क्षण ही जल-पान करता है, वह भी पित्तके उत्पादनमें कारण है। यह पित्त प्राणियोंके सद्योमरणका भी कारण हो जाता है। शरद् ऋतुमें उष्णजलका पान, भाद्रपदमें कटुरसका अधिक सेवन भी पित्त-प्रकोपका कारण है।'

पित्तनाशके उपाय

ब्रह्मवैवर्तपुराण इन उपचारोंको पित्तनाशक मानता है—

सशर्करं च धान्याकं पिष्टं शीतोदकान्वितम् ।
चणकं सर्वगव्यं च दधितक्रविवर्जितम् ॥
बिल्वतालफलं पक्वं सर्वमैक्षवमेव च ।
आर्द्रकं मुद्गचूर्णं च तिलपिष्टं सशर्करम् ।
पित्तक्षयकरं सद्यो बलपुष्टिप्रदं परम् ॥

(वही, १६ । ६१-६२½)

अर्थात् 'पिसे हुए धनियाका शर्कराके साथ शीत जलसे सेवन, चनोंका भक्षण, सब गव्य (दूध और घी) दही और छाछको छोड़कर, परिपक्व ताल और बिल्वफल, सब प्रकारके इक्षु (गन्ना) के विकार (शर्करा, गुड़ादि), अदरख, मूँगका यूष, शर्कराके साथ तिलका आटा—ये सब उपचार तत्काल पित्तके नाशक हैं। तत्क्षण बल तथा पुष्टि-को देनेवाले हैं।'

कफ-दोषके कारण

भोजनान्तरं स्नानं जलपानं विना तृषा ।
तिलतैलं स्निग्धतैलं स्निग्धमामलकीद्रवम् ॥
पर्युषितान्नं तक्रं च पक्वं रम्भाफलं दधि ।
[illegible] शर्करातोयं सुस्निग्धजलसेवनम् ॥

नारिकेलोदकं रूक्षस्नानं पर्युषिते जले।
तरुमोचापक्वफलं सुपक्वं कर्कटीफलम्॥
खातस्नानं च वर्षासु मूलकं श्लेष्मकारकम्।
ब्रह्मरन्ध्रे च तज्जन्म महद्वीर्यविनाशनम्॥

(वही, १६। ६४–६७)

अर्थात् 'भोजनके अनन्तर तत्काल स्नान, प्यास बिना जलपान, तिलका तैल, स्निग्ध पदार्थोंका स्नेह, स्निग्ध पदार्थ, आँवलेका द्रव, पर्युषित (बासी) अन्न, छाछ, पके हुए केलेका फल, दधि, मेघजल, शर्कराका जल, सुस्निग्ध पदार्थोंका भोजन, नारिकेलका जल, बिना तैल लगाये एवं पर्युषित जलमें स्नान, वृक्षों और केलाके अपक्व फल, पका हुआ ककड़ीका फल, वर्षामें कूपस्नान और मूलीका भक्षण—ये सब श्लेष्म-जनक (कफकारक) हैं। कफकी उत्पत्ति ब्रह्मरन्ध्रमें होती है। इससे महान् बल-विनाश होता है।'

कफनाशके उपाय

ब्रह्मवैवर्तपुराणने इन उपायोंको कफनाशक माना है—

वह्निस्वेदं भ्रष्टमन्नं पक्वतैलविशेषकम्।
भ्रमणं शुष्कभक्ष्यं च शुष्कपक्वहरीतकी॥
पिण्डारकमपक्वं च रम्भाफलमपक्वकम्।
वेसवारः सिन्धुवार अनाहारमपानकम्॥
सघृतं रोचनाचूर्णं सघृतं शुष्कशर्करम्।
मरीचं पिप्पलं शुष्कमार्द्रकं जीवकं मधु॥
द्रव्याण्येतानि गान्धर्वि सद्यः श्लेष्महराणि च।
बलपुष्टिकराण्येव वायुबीजं निशामय॥

(वही, १६। ६८–७१)

अर्थात् 'अग्निसे स्वेद लेना, भूजा हुआ अन्न, पका हुआ तेल, घूमना, सूखा भक्ष्य, सूखी और पकी हरें, कच्चा पिंडखजूर, कच्चा केला, वेसवार (धनिया, हल्दी आदि), सिन्धुवार, भोजन न करना, पानी न पीना, घृतके साथ रोचना-का चूर्ण, घृतके साथ शुष्क शर्करा, काली मिर्च, पीपल, सोंठ, जीवक और मधु—ये सब उपचार तत्काल कफके नाशक और बल-पुष्टिके दाता हैं।'

वात-दोषोंके कारण

भोजनानन्तरं सद्योगमनं धावनं तथा।
छेदनं वह्नितापश्च शश्वद्भ्रमणमैथुनम्॥
वृद्धास्त्रीगमनं चैव मनःसंताप एव च।
अतिरूक्षमनाहारं युद्धं कलहमेव च॥
कटुवाक्यं भयं शोकं केवलं वायुकारणम्।
आज्ञाचक्रे च तज्जन्म निशामय तदौषधम्॥

(वही, १६। ७२–७४)

अर्थात् 'भोजनके अनन्तर तत्काल गमन और दौड़ना, किसी वस्तुको काटना, अग्नि तपना, निरन्तर घूमना, मैथुन, वृद्धा स्त्रीके साथ सहवास, मनमें संताप, अतिरूक्ष अन्नका सेवन, भोजन न करना, युद्ध करना, कलह करना, कटुवाक्य कहना अथवा सुनना, भय और शोक आदि कार्य वातको दूषित करते हैं। दूषित वायुका जन्म आज्ञाचक्रमें होता है।'

वायुनाशक उपाय

ब्रह्मवैवर्तपुराणने इन उपचारोंको वायुका नाशक माना है—

पक्वं रम्भाफलं चैव सबीजं शर्करोदकम्।
नारिकेलोदकं चैव सद्यस्तक्रं सुपिष्टकम्॥
माहिषं दधि मिष्टं च केवलं वा सशर्करम्।
सद्यःपर्युषितान्नं च सौवीरं शीतलोदकम्॥
पक्वतैलविशेषं च तिलतैलं च केवलम्।
लाङ्गलीतालखर्जूरमुष्णामलकीद्रवम्॥
शीतलोष्णोदकस्नानं सुस्निग्धं चन्दनद्रवम्।
स्निग्धपद्मपत्रतल्पं सुस्निग्धव्यञ्जनानि च॥
एतत्ते कथितं वत्से सद्योवायुप्रणाशनम्॥

अर्थात् 'पका हुआ केला, फलोंके बीजोंके साथ शर्करा-का जल, नारिकेलका जल, तत्कालका तक्र (छाछ), सत्तू, भैंसका मीठा दधि केवल अथवा शर्कराके साथ, तत्कालका शीत अन्न, काँजी, शीतल जल, पका हुआ तैल, तिलका तैल, लाङ्गली, तालका फल, खजूर, गरम आँवलोंका द्रव, शीत और उष्णजलसे स्नान, सूक्ष्म पिसा हुआ चन्दनका लेप, कमलपत्रोंकी शय्या, घृतमें पक्व व्यञ्जन—ये सब उपचार वायुके तत्काल नाशक हैं।'

इस प्रकार अनेक विषय आर्यसर्वस्वरूप पुराणोंमें हैं। हमारा तो विश्वास है कि ऐसा कोई विषय नहीं है, जो विश्वमें हो और पुराणोंमें नहीं हो। कारण कि पुराणोंका सम्बन्ध द्यावापृथिवी (ब्रह्माण्ड) से है। ब्रह्माण्डसे सम्बन्ध-क्या है? ब्रह्माण्ड स्वयं ही पुराण है।

ज्ञान-दीपक और भक्ति-मणि

(लेखक—डॉ० श्रीबलदेवप्रसादजी मिश्र, साहित्यवाचस्पति, एम्० ए०, डी० लिट्०)

प्रश्न था—'ग्यानहि भगतिहिं अंतरु केता ।' उत्तर दिया गया कि 'भगतिहिं ग्यानहि नहिं कछु भेदा' । क्यों ? इसलिये कि 'उभय हरहिं भव संभव खेदा ।' मतलब यह है कि खेद दूर हों—यही प्रत्येक जीवकी जन्मजात आकाङ्क्षा रहती है । संसारी जीव तन-मन-धनके विकारोंको दुःख मानते हुए उनकी कमियोंको दुःख मानते हुए उन्हें दूर करनेकी अभिलाषा रखता है, दार्शनिक जीव त्रिविध दुःख—दैहिक, दैविक, भौतिक या आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्तिकी आकाङ्क्षा रखता है । साधक जीव पञ्चक्लेशकी बात करके अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेशको दूर करनेकी इच्छा रखता है । इन दुःखों या खेदोंमें सबसे बड़ा खेद है—अविद्याका खेद । अपनेको संसारी भव-सम्भव व्यक्तित्वाभिमानी—मान लेनेका खेद । सब खेदोंकी जड़में यही खेद है, परंतु इसका पता आसानीसे नहीं लग पाता । व्यक्तित्वका अभिमान ही तो जीवको आगे बढ़नेकी प्रेरणा देता रहता है, उसे बताता रहता है कि वह अभी अपूर्ण पुरुष है और उसे पूर्ण पुरुषत्वकी ओर बढ़ना है । इसीमें अपूर्ण पुरुषत्व भी है, जो कि वह स्वतः है और उसीमें पूर्ण पुरुषत्व भी है (विचार है, कल्पना है, अनुभूति है, लक्ष्य है, ध्येय है) जो कि वह होना चाहता है । अपूर्णताका दुःख साहित्यिक भाषामें हमारा यथार्थवाद है, हमारा भवसम्भव व्यापार है और पूर्णताका सुख हमारा आदर्शवाद है, हमारा मोक्ष-सुख है, हमारा कैवल्य परमपद है, हमारा भगवत्-साक्षात्कार है । हम समझ लें कि हमारी अपूर्णता केवलमात्र भ्रम है और हमारी पूर्णता ही त्रिकाल-सत्य वस्तु है, यह 'ज्ञान-मार्ग' है । हम अपनी अपूर्णताकी सचाई-झुठाईके विवेचनमें न पड़कर उसे पूर्णताके प्रति समर्पित कर दें, यह 'भक्तिमार्ग' है । इन दोनों मार्गोंसे खेद दूर हो सकता है, अतएव ये दोनों मार्ग बराबर हैं—

भगतिहि ग्यानहिं नहिं कछु भेदा । उभय हरहिं भव संभव खेदा ॥

एक और मार्ग है, जिसे 'कर्ममार्ग' कहते हैं । जीवन स्वतः एक कर्म है, अतएव चाहे ज्ञानी हो, चाहे भक्त हो, जबतक वह जीवित है, तबतक कुछ न कुछ कर्म तो वह करेगा ही । इस मार्गमें अपनी अपूर्णताको न तो भ्रम माननेकी आवश्यकता है, न उसे पूर्णताके प्रति समर्पित करनेकी । किंतु उसके कर्मोंमें ऐसी आसक्तिहीनता ले आनेकी आवश्यकता है कि वे परम धर्म अथवा परम साधना (योगसाधना, प्रयोगसाधना) के अंश बन जायँ । धर्म और योग अथवा प्रयोग तो प्रगतिकी बुनियाद हैं । शुभाचार और एकाग्रनिष्ठाकी तो पद-पदपर आवश्यकता है । अतएव कर्मकी आवश्यकता मानते हुए भी विचारकोंने मस्तिष्क और हृदय अथवा बुद्धि और भावकी दृष्टिसे हमारे साधनामार्गको ज्ञानमार्ग और भक्ति-मार्गके ही रूपमें देखा है और यही विचार करते रहे हैं कि ज्ञानमार्ग श्रेष्ठ है या भक्तिमार्ग ।

गोस्वामीजीने 'विनयपत्रिका'में एक जगह कहा है कि 'जो जिस कलामें सहज दक्ष है, उसके लिये वह अत्यन्त सुगम है, जबकि दूसरेके लिये वह एकदम पहाड़ है ।' उन्होंने उदाहरण दिया है कि 'गङ्गाकी तीव्र धारामें हाथी बह जा सकते हैं, किंतु छोटी-सी मछली बड़ी सुगमतासे पार जा सकती है ।' यह भी कहा कि 'रेतमें शक्करके दाने मिल जायँ तो वे बड़े-बड़ोंके पल्ले न पड़ेंगे, जबकि एक छोटी-सी चिउँटी अपनी रसज्ञतासे उन दानोंको सहज ही चुन लेगी ।' ठीक यही हाल ज्ञानियों और भक्तोंका है । जो परिष्कृत मस्तिष्कवाले व्यक्ति हैं, उनका सहज आकर्षण ज्ञानमार्गकी ओर होगा । जो स्वभावसे ही भावुक भक्त हैं, वे भक्तिमार्गसे बढ़कर और कोई मार्ग पसंद न करेंगे । अतएव क्या कहा जाय कि कौन मार्ग वस्तुतः श्रेष्ठ है । अहंकार-विगलन तो दोनों मार्गोंसे होता है—पूर्णत्वका साक्षात्कार तो दोनों मार्गोंसे होता है । फिर कौन बड़ा कौन छोटा । गीताका उद्देश्य था—'ब्रह्मविद्याका विवेचन, योगशास्त्रका उद्घाटन ।' इसीलिये उसमें कहा गया—

'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।'

नहिं कछु दुर्लभ ग्यान समाना ।

रामायणका उद्देश्य है, 'सकल कलिकलुष-विध्वंसन, स्वान्तस्तमःशान्ति, स्वान्तःसुख'—अतएव उसमें कहा गया—'सब कर फल हरि भगति सुहाई ।' यह कहा गया काव्यके मार्गसे—जो आबाल-वृद्ध-वनिता, सर्वप्रिय, साधक

सिद्ध, आमूढ, पण्डित, क्रियावान् सभीके लिये रोचक है। इसीलिये गोस्वामीजीने उभय मार्गोको भव-सम्भव खेद-हरणमें दक्ष बताते हुए भी, अर्थात् बराबरीका दर्जा देते हुए भी उनके बीच 'कछु अन्तर' (नाथ मुनीस कहहिं कछु अंतर) की भी बात कह दी है।

पहला अन्तर तो यह कि ज्ञान-विज्ञान, योग-वैराग्य—ये सदा पुरुषजातिके साधन हैं, जिनपर नारी-जातिकी मायाका जोर चल जाता है। जबकि भक्ति स्त्रीजातीय है, जिसे माया किसी प्रकार मोहमुग्ध कर ही नहीं सकती। दूसरा अन्तर यह है कि ज्ञान दीपकके तुल्य है, जिसकी संरचना विशेष रूपसे स्वप्रयत्नपर निर्भर है, जबकि भक्ति मणिके तुल्य है, जिसकी प्राप्ति विशेषरूपसे राम-कृपा (प्रभु-कृपा) पर निर्भर है। दीपक क्षणिक प्रकाशवान् है और केवल प्रकाश दे सकता है, जिसके सांनिध्यमें गाँठ छोड़नेका काम तो बुद्धिको ही करना पड़ेगा। तब कहीं भव-सम्भव खेद दूर होंगे। मणि न केवल निरन्तर प्रकाशशील है, किंतु आधि-व्याधि, दुःख-दारिद्र्यके नाशका भी सामर्थ्य रखती है और उसके प्रकाशमें न तो बुद्धिको गाँठका रहस्य जाननेकी आवश्यकता है, न गाँठ छोड़नेकी ही आवश्यकता है। भव-सम्भव खेद तो उसके सांनिध्यमात्रसे आप ही दूर हो जायँगे।

इस दूसरे प्रकारके अन्तरको गोस्वामीजीने बड़े काव्यमय ढंगपर समझाया है। विज्ञान-दीपक और भक्ति-मणिमें रूपक अलंकारकी बहार देखने ही योग्य है। 'ज्ञानमार्ग' आत्मनिर्भर है और 'भक्तिमार्ग' परमात्मनिर्भर है। आत्मनिर्भर व्यक्ति पहले तो बढ़िया 'ज्ञान-घी'का जुगाड़ करे, फिर तुरीयावस्थाकी मोटी बत्तीका उसके साथ संयोग करे। इन दोनोंको 'समता'की दीवटपर दृढ़ रूपसे स्थित चित्तमें भरकर तब 'योगाग्नि'से उनका प्रज्वलन करे। मतलब यह कि पहले तो सात्त्विक गुणयुक्त चित्त समताके भावपर पूरी तरह स्थित हो जाय। तब उसमें तुरीय वृत्तिके साथ ज्ञानकी चिकनाई और योगकी क्रियाका संयोग हो और वह भी इस प्रकार कि सोऽहमस्मि (अर्थात् मैं ही वह पूर्णत्व हूँ) की अखण्ड वृत्ति जागती रहे, तब कहीं बुद्धिको वह प्रकाश मिलेगा, जिसके सहारे वह भव-बन्धन अर्थात् चित्-जड़-ग्रन्थि मिथ्या-भ्रमकी गाँठ खोल सकेगी।

यह गाँठ ऐसी-वैसी गाँठ नहीं है।

'जदपि मृषा छूटत कठिनई।' 'छूट न ग्रंथि न होइ सुखारी।'
'छूट न अधिक अधिक अरुझाई।'

छूटना तो दूर रहा, वह मोहमुग्ध जीवको दिखायी भी नहीं पड़ती। 'ग्रंथि छूटि किमि परइ न देखी।' गोस्वामीजीका कहना है कि 'विज्ञान-दीपक'का जला सकना सबके बलबूतेकी बात नहीं। पहले तो सात्त्विक श्रद्धाका उद्रेक दैवसंयोगपर निर्भर रहता है। अतएव ज्ञानमार्गके जड़में भी 'ईश-कृपा' ही समझिये। फिर स्वप्रयत्नका विश्वासी जीव दैव-कृपापर भी बहुत श्रद्धावान् नहीं रहता। अतएव उसके प्रयत्नको पूरी सफलता मिल ही जायगी, यह भी नहीं कहा जा सकता। 'अस संयोग ईस जब करई, तबहुँ कदाचित सो निरुअरई।' अतएव घुणाक्षर-न्यायसे यदि दीपक जला भी लिया गया तो उसे बुझा देनेका पहला उपक्रम तो मायाकी ओरसे और दूसरा उपक्रम विषयी देवताओंकी ओरसे होता है, जो इन्द्रियोंके झरोखे बरबस खोल दिया करते हैं। ज्ञानमार्गपर बढ़ना मानो तलवारकी धारपर चलना है। प्रयत्नपूर्वक यदि मोक्ष मिल भी गया तो वह भक्तिके बिना टिक न सकेगा; क्योंकि मोक्षका भावनापक्ष, आनन्दपक्ष चिन्तनका नहीं, ज्ञानका नहीं, किंतु अनुभूतिका, भक्तिका पक्ष है।

जबतक भवके अस्तित्वका ध्यान और भव-संतरणकी चिन्ता है, तबतक द्वैत तो रहेगा ही और जबतक द्वैतभाव है, तबतक सेव्य-सेवक-भाव बिना कृतार्थता नहीं। यह सिद्धान्त-तत्त्व समझ रखना चाहिये। अतएव व्यवहारमें रहकर ज्ञानीकी 'सोऽहमस्मि'वाली शेखी व्यर्थ है।

ज्ञानका घी भी देखिये कितनी कठिनाईसे मिल पाता है। सबसे पहली बात तो है सात्त्विक श्रद्धा, जो हरिकृपासे ही प्राप्य है। वह शुभ धर्माचरणोंसे पोषित की जाय, भावो-द्रेकके सहारे वह रसप्रदा बनायी जाय, निवृत्तिके सहारे उसमें स्थिरता लायी जाय। जैसे कि दूहनेके समय नोईके सहारे गाय स्थिर कर दी जाती है; फिर निर्मल मनरूपी आस्तिक्य-भावापन्न अहीर विश्वासके पात्रमें उस गायका रस—गोरस ग्रहण करे। श्रद्धाका रस विश्वासके सुपात्रमें हो। सात्त्विक श्रद्धारूपी गायके उसी रस या दुग्धका नाम है—'अहिंसावृत्ति' (परम धर्ममय पय)' मैत्री-करुणा-मुदिता-उपेक्षारूपी लोकव्यवहार। इस सदाचार (लोक-व्यवहार) को कामनाहीनतारूपी अग्निसे गाढ़ा करे और संतोष, क्षमा, धृति और समत्वके गुणोंसे उसे जमने दे। तब प्रसन्नताके भाँडमें इस परम धर्मको सत्-चिन्तनके मन्थन-

दण्ड और सत्-क्रियाकी मन्थन-रज्जुसे, जिसका आधार दम-रूपी सद्गुण स्तम्भ हो, खूब मथे। ऐसा करनेपर ही विमल वैराग्यरूपी मक्खन उस धर्माचरणसे प्रकट होगा। उस मक्खनसे भी ज्ञानका घी तब बनेगा, जब शुभाशुभ कर्मोंकी आहुति देकर ऐसी योगाग्नि प्रज्वलित की जाय, जिसमें ममत्वरूपी मलको जला देनेकी पूरी क्षमता हो। जबतक ममता पूरी तरह नहीं जल जायगी, तबतक वैराग्य ज्ञान-रूपी घीके दर्जेपर पहुँच ही न पायेगा।

पहले तो सामान्य-बुद्धिने एक 'अकथ कहानी' कही, जो न समझते बनती, न कहते बनती है। कहानी यह कि जीव ईश्वरका अंश है, मायावश होकर कीर (वाचक ज्ञानी) और मर्कट (अज्ञानी लोभी) की तरह बँध गया, तथा जड-चेतनके बीच ग्रन्थि पड़ गयी। फिर साधक-बुद्धि उस ग्रन्थिके छोरने (छुटाने) हेतु घी बनानेमें व्यस्त हो गयी। फिर वैज्ञानिक-बुद्धिने ऐसा विज्ञान-दीप जलाया, जो रात-दिन एक समान शायद ही प्रकाशित हो पाये। ये सब साधन पूरी तरह जुट जायँ, तब भी बुद्धि उस ग्रन्थिको छोर ही लेगी और जीवको कृतार्थ कर ही देगी, इसमें शङ्का ही समझिये। यह तत्त्व समझाया—गोस्वामीजीने 'विज्ञानदीपक' के रूपकके सहारे।

अब उनकी 'भक्तिमणि' की खूबी देखिये। न तो उसके लिये बुद्धिके व्यापारकी आवश्यकता है अर्थात् न अकथ कहानीकी ग्रन्थि छोरनेकी, न ज्ञानका घी बनानेकी अथवा न 'विज्ञानदीपक' जलानेकी आवश्यकता है, न समत्वपूर्ण दिया-घृत-बातीके प्रयत्न-साध्य साधन जुटानेकी आवश्यकता है। वह तो तुष्टिके लिये, आनन्दके लिये, ग्रहण की जाती है, जैसे भोजन; परंतु प्रभु हमारे बिना प्रयास ही उसे जठराग्निके समान पचाकर हमें पुष्टि दे देता है। हमारी तमोरूपिणी अविद्या, जो कि संसृतिकी मूल है, भवके दुःखोंकी जननी है, आप-ही-आप नष्ट हो जाती है। मोहरूपी दारिद्र्य उसके पास नहीं आता (वह चिन्तामणि जो ठहरी)। लोभका प्रभञ्जन उसे बुझा नहीं सकता। अन्य मानस-रोग दूर भाग जाते हैं और हर तरहके दुःखका लवलेशतक स्वप्नमें भी नहीं रह जाता।

यह मणि इस संसारमें हर कहीं सुलभ है। पवित्र धर्म-ग्रन्थोंमें जो भगवत्-चर्चाएँ रहती हैं, वे ही तो इस मणिकी प्राप्तिकी खदानें हैं। भक्तिका उद्रेक तो उन्हीं कथाओंके समय श्रवण, मनन, निदिध्यासन, कीर्तन, अनुशीलन आदिसे होगा। संत सज्जन लोग ही उन खदानों और उनमें छिपी हुई मणियोंके बताने-दिखानेवाले मर्मी हैं। अपना प्रयत्न इतना ही है कि हमलोग अपनी ही ज्ञान-वैराग्यरूपी दोनों आँखोंके सहारे अपनी सुमतिरूपी कुदारीसे भावसहित (अर्थात् प्रभुतन्मयत्वके भावसे भावित होकर) खोदना प्रारम्भ कर दें। हमें सब सुखोंकी खानि भक्ति-मणि अवश्य मिल जायगी।

भक्तिकी प्रधान शर्त है—'प्रभु-निर्भरता', न कि आत्म-निर्भरता; अतएव यद्यपि इसकी प्राप्तिके लिये भी गोस्वामीजीने खोदनेके प्रयत्न और ज्ञान-वैराग्य नयनके अस्तित्वकी आवश्यकता बतायी है; किंतु इसकी प्राप्तिके लिये पहिले तो प्रभुकृपापर जोर दिया है (राम कृपा बिनु नहिं कोउ लहई।) फिर संतकृपापर जोर दिया है (सो बिनु संत न काहूँ पाई।) भक्तिको कृपासाध्य तत्त्व समझना चाहिये, न कि क्रियासाध्य तत्त्व! प्रभुकृपा कब होगी—इसका कोई ठिकाना नहीं। संतकृपा इस संसारमें अलबत्ता सत्सङ्गद्वारा सम्पादित की जा सकती है। अतएव सत्सङ्ग ही भक्तिको सुलभ करनेका उत्तम साधन है। मर्मी सज्जनोंका सत्सङ्ग हो, इसके लिये प्रयत्न किया जाय, हमारे ज्ञान और वैराग्यके नयन निर्मल होकर भक्तिके प्राप्य-स्थल देख-परख सकें, इसके लिये प्रयत्न किया जाय, हमारी सुमतिरूपी कुदारी ठीकसे चल सके, इसके लिये प्रयत्न किया जाय, सर्वोपरि प्रयत्न यह होता रहे कि हम 'प्रभुकृपा' के पात्र बनें, तभी हमें सर्वदुःखनिवारिणी सर्वसौख्य-प्रदायिनी 'भक्तिचिन्तामणि' की उपलब्धि होगी और इस उपलब्धिके लिये जो सुयत्न करे, वही 'चतुरशिरोमणि' है।

'चतुर सिरोमनि तेइ जग माहीं। जे मनि लागि सुजतन कराहीं' ॥

सार यह कि प्रयत्न तो ज्ञानमार्गमें भी आवश्यक है और भक्तिमार्गमें भी। और जैसे ज्ञानमार्ग भावसे (श्रद्धा-विश्वास आदिसे) शून्य नहीं हो सकता, उसी प्रकार भक्तिमार्ग भी विवेक और वैराग्यसे—ज्ञान और विरागकी सहायतासे—शून्य नहीं हो सकता। किंतु ज्ञानमार्गका 'अहं' भ्रम होते हुए भी अत्यन्त दुस्त्यज है, जबकि भक्तिमार्गका 'अहं' प्रभु-समर्पित हो जानेसे बन्धनका कारण नहीं बन पाता। यही वह 'कछु अन्तर' है, जो ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्गकी समानतामें न्यूनाधिक्यभाव पैदा कर देता है और इसीको स्पष्ट करनेके लिये प्रातःस्मरणीय गोस्वामीजीने 'विज्ञान-दीप' और 'भक्तिमणि' का सहृदयसंवेद्य रूपक बाँधा है।

गङ्गातटके बाबा

[कलक्टरकी डायरी]

(लेखक—श्रीअयोध्याप्रसादजी दीक्षित, आई० ए० एस्०)

उन दिनों मैं उत्तर प्रदेशके फतेहपुर जिलेमें कलक्टर था। सन् १९६९ के जाड़ेके दिन थे, कड़ाकेकी सर्दी पड़ रही थी। जाड़ेके दिनोंमें कलक्टरको सरकारी निर्देशोंके अनुसार ६० रातें जिलेके विभिन्न स्थानोंमें दौरेपर बितानी होती हैं। वैसे जिलेके विभिन्न भागोंके नाना प्रकारके व्यक्ति विभिन्न स्थानोंसे जिलेके प्रधान स्थानपर जिलाधीशसे मिलने आते हैं; पर यह एक ऐसा मौका होता है जब जिलाधीश नजदीकसे जिलेके असली निवासियोंको, बल्कि यों कहिये कि असली भारतवर्षको निकटसे देख सकता है। जनसम्पर्कका ऐसा अवसर अन्यथा नहीं मिलता। इन दौरोंमें आडम्बर जितना कम हो, उतना ही अधिक साधारण व्यक्ति निर्भय होकर जिलाधीशके पास आ सकता है और अपने दुःख-दर्दकी बात कह सकता है तथा जिला-अधिकारी उतना ही अधिक अपने अधीनस्थ विभिन्न विभागोंकी अच्छाई, बुराई, कमजोरी तथा अपने अधीनस्थ कर्मचारियोंकी जनहित अथवा अहितकी रुचिका अंदाज लगा सकता है। जनता तो जनार्दन है और इस शीशेमें अपनी कार्यकुशलता, सफलता और असफलताका प्रत्यक्ष दर्शन हो जाता है।

सम्भवतः १२ जनवरीको हमारा पड़ाव जिला फतेहपुरमें नौवस्था नामक स्थानपर गङ्गाके किनारे लगा। १२ और १३ तारीखके दिन आसपासके गाँवोंमें खेतों-बागोंकी पड़ताल, माल विभागके कागजोंकी जाँच-पड़ताल, विकास-क्षेत्रों और विकास कार्योंका मुआइना करने तथा जनसाधारणसे मिलनेमें बीत गये। प्रत्यक्ष देखनेमें आ रहा था कि भारतका नया समाज कैसे ढल रहा है। जमीदारियाँ समाप्त होनेपर पुराने जमीदार किस प्रकार नयी व्यवस्थामें अपने स्थान बना रहे थे। किसान कितना जागरूक हो चुका था। सरकारी विभागोंकी गलतियाँ किस प्रकार निर्भय होकर कहनेका साहस लोगोंमें आ चुका था। आजाद होनेका स्वाभिमान किस प्रकार लोगोंके नेत्रोंमें झलकता दिखायी पड़ता था। और वह इलाका तो तत्कालीन प्रधान-मन्त्री श्रीजवाहरलाल नेहरूके निर्वाचन क्षेत्रका एक भाग था, स्वभावतया लोगोंको इस बातका गर्व था कि वे प्रधान-मन्त्रीके निर्वाचन क्षेत्रमें रहते हैं और अपनी बात सीधे ही इस रिश्तेसे प्रधान-मन्त्रीको भेजते भी थे और प्रधान-मन्त्रीका निर्देश भी तुरंत सम्बन्धित विभागोंको पहुँच जाता था तथा उनपर अपेक्षाकृत कार्यवाही भी शीघ्र होती थी।

१३ तारीखको रात हो चुकी थी और मैं अपने तम्बूमें लगभग १०-३० बजे चारपाईपर लेट गया था। पैट्रोमैक्सकी रोशनीमें मैं एक पुस्तक पढ़ रहा था। तबतक चपरासीने आकर कहा—'कल तो छुट्टी है—संक्रान्ति है। क्या आप गङ्गा-स्नान करने जायँगे?' मुझे याद आया कि संक्रान्तिके दिन तो हमारे घरमें खिचड़ी खानेका रिवाज है और तब मनमें आया कि क्यों न कल कैम्पसे दूर गङ्गाकी बालूमें मिट्टीकी हाँड़ीमें खिचड़ी बने और गङ्गा-स्नान करके वहीं खिचड़ी खायी जाय। फिर मनमें संकोच हुआ कि शायद ऐसा कलक्टर न करते रहे हों और इसकी ऊट-पटाँग चर्चा चले। फिर विचार आया कि देशमें तो समाजवादी समाज बनानेकी घोषणा हो चुकी और सरकारी अधिकारी कम-से-कम छुट्टीके दिन देशकी साधारण जनता-जैसा व्यवहार क्यों नहीं कर सकते। यह निश्चय कर अपनी इच्छा चपरासीको बता दी। चपरासी केवल 'बहुत अच्छा' कहकर चला गया।

सुबह लगभग नौ बजे कुछ लोग मिलनेके लिये आये। उनसे मिलनेके बाद मैंने जानेका निश्चय किया, पर मैंने यह बात मन-ही-मनमें सोची कि 'अच्छा हो कि मुझे वहाँ एकान्त मिले और दो-एक लोगोंको छोड़कर और मेरे साथ कोई न जाय।' एक नावमें गङ्गाके उस पार एक एकान्त स्थानमें हमलोग गये। शीतकालकी गङ्गा तन्वङ्गी होकर लहराती हुई बालुकाराशिमें अपने टेढ़े-मेढ़े रास्ते बनाते हुए बह रही थी। दोनों ओरकी बालुकाराशि सूर्यके प्रकाशमें बूटों लगी धवल साड़ीकी तरह चमक रही थी। हमलोग जिस स्थानपर उतरे, उस स्थानपर पानी और हवासे बनायी गयी बालूकी लहरें अछूती थीं और उनपर पैर रखते हुए ऐसा लगता था कि जैसे प्राचीन कालका कोई महान् यात्री अबतक अनजाने किसी अन्य प्रदेशपर पैर रख रहा हो।

स्नान करनेके उपरान्त जब मैंने पूछना चाहा कि 'हाँडी कहाँ चढ़ी है ?' तो मालूम हुआ कि इस स्थानको मेरे उपयुक्त न समझकर सामनेके गङ्गा-पार एक बाबाजीकी कुटियामें भोजनका आयोजन किया गया है। पहले तो मुझे थोड़ी-सी झुँझलाहट हुई, परंतु फिर यह सोचकर कि 'चलो, एक नया स्थान देखेंगे'—नावमें बैठकर सामने आश्रमकी ओर चले। गङ्गा पार करते हुए पूछनेपर मालूम हुआ कि यह बाबाजी कुछ सालों पूर्व उस स्थानपर आकर बस गये थे और तबसे वहीं निवास कर रहे हैं। बड़े निर्लोभी और कठोर परिश्रमी हैं। इस ऊबड़-खाबड़ और नालोंसे कटी हुई जमीनको उन्होंने थोड़े ही समयमें कितना बदल दिया है, यह देखनेसे मालूम होता था। गङ्गापार करके हमलोग आश्रमकी चढ़ायी चढ़ने लगे। गङ्गातटसे ही आश्रमसे मिला हुआ भाग इतना साफ-सुथरा दिखायी पड़ा कि बाबाजीकी रुचिका पता वहींसे ही लगने लगा। १०-१२ गज चलनेपर कच्ची सीढ़ियाँ भी दिखायी पड़ीं, जिनपर होकर हम आश्रमके कगारपर चढ़ने लगे। सीढ़ियाँ भी कितनी सुडौल काटकर बनायी गयी थीं; शायद बरसातमें कट जानेसे हर साल बनानी पड़ती थीं। स्वच्छ, साफ, लिपी-पुती सीढ़ियाँ समाप्त होनेपर काँटेदार सिउड़से लगी हुई आश्रमकी चहारदीवारी दिखायी पड़ी। कच्ची मिट्टीके खम्भोंके सहारे बने एक लकड़ीके दरवाजेसे होकर हमलोग अंदर पहुँचे। अंदर कई प्रकारके पेड़ लगाये गये थे और सारे-के-सारे पेड़ स्वस्थ थे और भली प्रकार बढ़ रहे थे। लगता था कि नीचे गङ्गाके जलसे इनकी भली प्रकार सिंचाई की जाती है। सारा प्राङ्गण ताजमहलके फर्शकी तरह स्वच्छ, निर्मल था। मध्यमें एक कोठरी कच्ची मिट्टीसे बनी हुई थी; जिसके बाहर चबूतरा बना हुआ था और उसपर गोबर लिपा हुआ था। कोठरीके सामने चबूतरेके ऊपर फूसका छप्पर पड़ा था। उसके बगलमें कच्ची हाँड़ीमें खिचड़ी पक रही थी। उस समय बाबाजी वहाँ नहीं थे। दोपहर अभी ढल रही थी और भोजनके लिये वहाँ बैठनेवाले ही थे, तबतक मुझे मालूम हुआ कि बाबाजी आ गये। हमारे यहाँ रिवाज था कि संक्रान्तिके दिन दान करके भोजन किया जाता है। मेरे मनमें यह बात आयी कि 'बाबाजीसे उत्तम और कौन आदमी मिलेगा', इसलिये मैंने उन्हें भोजन करनेकी प्रार्थना करनी चाही, तबतक बताया गया कि बाबाजी स्वयं इधर आ रहे हैं। मैंने देखा, गाँधीजीकी तरह कमरपर कपड़ेका एक टुकड़ा लपेटे साँवले रंगका एक अधेड़ व्यक्ति लगभग ६० वर्षकी उम्रका सामनेसे चला आ रहा है। नंगे पैर, अधपकी दाढ़ी, चेहरे और पैरोंमें कठोर परिश्रमके निशान; जैसे कोई कठोर परिश्रम करनेवाला किसान या मजदूर है। आँखोंमें इतनी गहराई कि उनकी ओर देखनेमें उसकी थाह ही न मिले। चेहरा इतना सौम्य और शान्त कि उस स्थितिके लिये संसारका बड़े-से-बड़ा सम्राट् भी इच्छा करे। मैंने प्रणाम किया। बाबाजीने हाथ उठाकर आशीर्वाद दिया। मैंने बाबाजीसे भोजन करनेकी प्रार्थना की। बूढ़े बाबाने उत्तर दिया—'मैं तो भोजन कर चुका।' पर मैंने कहा—'आप तो यहाँ थे ही नहीं।' उन्होंने कहा—'सूरज आसमानमें अपने शीर्ष स्थानसे जब ढलने लगता है, तब मैं आसपासके किसी गाँवमें अनिश्चित रूपसे चला जाता हूँ। तीन घरोंमें भिक्षा माँगता हूँ, जो मिल जाता है; गङ्गाजलमें धोकर वहीं गङ्गाकिनारे भोजन कर लेता हूँ; गङ्गाजल पी लेता हूँ। वह मैं कर चुका। दिनमें एक बार ही भोजन करता हूँ, ऐसा मेरा नियम है। इसलिये अब तो मैं कुछ नहीं ले सकता। तुम भोजन पाओ।' फिर थोड़ा-सा रुककर बोले—'इस कुटियामें प्रायः किसीको नहीं आने देता हूँ।' फिर मेरी पत्नीकी ओर देखकर बोले—'स्त्रियोंको तो बिल्कुल नहीं।' मैंने क्षमा माँगी कि 'मुझे यह मालूम नहीं था।' तब उन्होंने कहा कि 'तुम्हारी श्रद्धा और विश्वासकी बात मैं सुन चुका हूँ, इसलिये तुम्हारे आनेमें मेरे मनमें कोई आपत्ति नहीं उठी।' मैंने बाबाजीसे निवेदन किया कि 'यदि आप आज हमारा अन्न नहीं ग्रहण कर सकते तो कल जब आप भिक्षाके लिये निकलें तो यहाँसे दो फर्लांगपर लगे हमारे कैम्पमें भी एक बस्ती समझकर दर्शन देनेकी कृपा करें।' बाबाजीने कहा—'निश्चय करके किसी निश्चित ग्राम या नगर-विशेषपर नहीं जाता, इसलिये कलकी बात कलकी उमंगपर ही रह जाने दीजिये।' इतना कहकर बाबाजी चुप हो गये और मुझे भोजन करनेका निर्देश दिया।

भोजन करनेके पश्चात् मैं बाबाजीके पास आश्रमके एक पेड़के नीचे बिछी चटाईपर आ बैठा और बाबाजीसे बातें करने लगा। बातों-बातोंमें भावावेशमें आकर बाबाजीने बताया कि कैसे वह उत्तरसे पूर्व गङ्गाजीके किनारे भ्रमण करते हुए कुछ वर्ष पूर्व इस स्थानसे गुजरे और रात्रिमें इस आश्रममें जो एक समाधि बनी है, उसके समीप विश्राम किया। रात्रिमें

उन्हें ऐसा आभास हुआ कि जैसे किसीने कहा—'अब मत भटको, इसी स्थानपर ठहर जाओ।' और तबसे वह यहाँ ही ठहर गये। अकेले परिश्रम करके उन्होंने इस स्थानको स्वच्छ किया। ऊबड़-खाबड़ जमीनमें उन्होंने पेड़ लगाये। पौधे और फूल लगाये। ओषधियाँ लगायीं, कुआँ खोदा। समाधिके ऊपर शिवजीका मन्दिर स्थापित किया।

एक थोड़ेसे भागमें जमीनको गोड़कर अरहरके पौधे हर-फसलमें लगाये और जिनमें अरहर भी निकली, जिसे स्थानीय व्यक्तियोंसे बिकवाकर उस धनको भी आश्रमके काममें लगाया। बादमें मुझे मालूम हुआ कि 'बाबाजी पैसा नहीं छूते और पासके गाँवके लोग अरहरका पैसा भी आश्रमके काममें इस्तेमाल करते हैं।' मैंने उनसे परमार्थ-विषयके भी प्रश्न किये; परंतु बाबाजीने सिर्फ सहज साधनाकी बात कहकर विशेष बात नहीं बढ़ायी। मुझे इस कर्मठ महात्माके जीवन और उसकी त्याग और परमार्थकी भावनाको देखकर बड़ी श्रद्धा पैदा हुई। ऐसे कर्मठ संत देशकी अक्षय और पवित्र विभूति हैं और ऋषियोंकी उस महान् परम्पराके अक्षुण्ण स्रोतको जीवित रखे हुए हैं, जो हमारे सांस्कृतिक वैभवकी अमूल्य निधि है।

दूसरे दिन दोपहरके समय मैं अपने परिवारके साथ भोजनकी प्रतीक्षामें बैठा था और मन-ही-मन विचार कर रहा था कि शायद बाबाजी इधर आ निकलें। जब ढाई बज गये और बाबाजी नहीं आये तो हमलोग निराश होकर भोजन करनेके लिये बैठ गये। मुश्किलसे एक तिहाई भोजन ही कर पाये होंगे कि 'देखा, उधरसे बड़ी तेजीके साथ बाबाजी अपने आश्रमसे हमारे कैम्पकी तरफ आ रहे थे। कमरमें लपेटा हुआ वह थोड़ा-सा कपड़ा, नंगे पैर, सिरमें कमण्डलुका हैट लगाये हुए बाबाजी बड़ी तेजीसे चले आ रहे हैं। कैम्पके पास बैठा हुआ चौकीदार तुरंत खड़ा हो गया और वह कहनेहीवाला था कि 'उधर कहाँ जा रहे हो ?' तबतक हमलोगोंने जल्दीसे हाथ धोकर आगे बढ़कर बाबाजीका अभिनन्दन किया और पके हुए भोजनमें-से निकालकर बाबाजीको देने लगे। बाबाजीने अपना कमण्डलु सिरसे उतार लिया और इशारा करके बोले—'इतना नहीं, थोड़ा।' और दो अङ्गुल उठाकर इशारा किया कि अभी दो घर और जाना है। हमलोगोंने भावविभोर होकर बाबाजीको प्रणाम किया। हमारे नेत्रोंमें आनन्दके आँसू छा गये। बाबाजी मूर्तिवत् विरागके समान तुरंत पलटकर तेजीके साथ पग बढ़ाते हुए दूसरे गाँवकी ओर चल पड़े और थोड़ी दूर जाकर अन्तर्धान हो गये।

× × ×

आज कैम्पकी आखिरी रात थी। शामके समय एक विद्वान् स्वामीजी आ गये और मैंने उनसे उन बाबाजीका जिक्र किया।

निश्चय हुआ कि हमलोग आज उनके दर्शन करने चलेंगे ? वहाँसे कैम्प उखड़ना था। रात्रिके लगभग ९ बजे गङ्गाजीकी हल्की-हल्की सर्द हवा शरीरमें कम्पन पैदा कर रही थी। हमलोग कोई चार-पाँच व्यक्ति स्वामीजीके साथ गैसकी रोशनीमें गङ्गाके किनारे ऊबड़-खाबड़ जमीनसे होते हुए बाबाजीके आश्रमकी ओर जा रहे थे। आकाशमें चन्द्रमा चमक रहा था। हमलोग आश्रमके दरवाजेपर पहुँचे। दरवाजा बंद था। आवाज लगायी तो बाबाजीने आकर दरवाजा खोला। हमलोगोंको अंदर लिया और कोठरीके बाहर बने हुए चबूतरेपर एक चटाई बिछा दी। एक चबूतरेपर तो हमलोग बैठ गये और दूसरेपर बाबाजी और स्वामीजी बैठे। गैसकी रोशनीसे कोठरीके अंदर मैंने देखा कि दीवारके सहारे लगे तख्तोंमें कुछ बस्ते बँधे रक्खे थे। मैंने कहा कि 'महाराज ! यह क्या है' तो उन्होंने कहा—'कुछ पुस्तकें हैं।' मैंने कहा कि 'अंदर जाकर देख सकता हूँ ?' इसपर बाबाजी खड़े हो गये और गैसको अंदर लानेके लिये कहा। अंदर जाकर देखा तो कोठरीमें चारों ओर दीवारपर काफी चौड़े तख्ते लगे हुए थे और उनपर सजायी हुई न जाने कितनी पुस्तकें रक्खी हुई थीं—नयी और प्राचीन। हमलोग देखकर अवाक् रह गये कि यह महात्मा इतने कठोर परिश्रमी हैं और इतना स्वाध्याय भी करते हैं। कोठरीसे बाहर आनेपर बाबाजीने कहा कि 'इस रोशनीको मन्दिरके पीछे कर दो।' तुरंत एक आदमी गैस लेकर मन्दिरके पीछे चला गया। अब थोड़ी देरमें हम-लोगोंने देखा—चन्द्रमाके प्रकाशमें आश्रम कितना मनोहर लग रहा था। आश्रमके कगारके नीचे गङ्गाकी निर्मल धार, उस पार चमकती हुई बालूका मैदान और उसके बाद दूर वृक्षोंकी सुन्दर पङ्क्ति। सारा वातावरण कितना सुन्दर, कितना पवित्र, कितना आनन्दमय, निस्तब्ध रजनी, कहीं कोई शब्द नहीं। हमलोग न जाने किस संसारमें आ गये, जहाँ केवल शान्ति है और केवल आनन्द है। बाबाजीने कहना शुरू किया कि 'गैसके प्रकाशकी यहाँ भला क्या

आवश्यकता । यहाँ तो चन्द्रमाका प्रकाश है तो सूर्यसे प्रकाश मिलता है । और सूर्यको भी अन्ततोगत्वा ब्रह्मसे प्रकाश मिलता है ।' हमने कहा—'बाबाजी ! आप क्या लालटेन भी नहीं रखते ?' बाबाजीने कहा—नहीं, जहाँ ब्रह्मका प्रकाश है, वहाँ और किसी प्रकाशकी क्या आवश्यकता है ।'

हमने कहा कि 'बरसातमें तो यहाँ कीड़े-मकोड़े हो जाते होंगे और अगर कोई साँप पैरके नीचे पड़ जाय ?' बाबाजीने कहा कि 'संसारके सभी प्राणी अपने स्वाभाविक धर्मके अनुसार कर्म करते हैं, जिसको हम मनसे शत्रु मानते हैं, वहीं हमको भी वह अपना शत्रु मानता है और हमारा अनहित करता है । सारा मनका खेल है ।' और यह कहकर वे मौन हो गये । कुछ देर बाद स्वामीजीने बाबाजीसे परमार्थ-चर्चा प्रारम्भ की । उनकी बातोंसे पता चला कि बाबाजीका ज्ञान बहुत बढ़ा हुआ है । एक अवस्थातक तो हमलोग कुछ उनकी बातोंको समझते रहे, लेकिन जब वे लोग अधिक गहराईमें डूबे तो हमारी सीमासे बाहर हो गये । काफी राततक यह विषय चलता रहा । अन्तमें जब हमलोग बाबाजीसे विदा लेकर उनको प्रणाम करके और आशीर्वाद लेकर वहाँसे गङ्गाके किनारे-किनारे चले तो हमने सोचा कि यह गङ्गाजीकी निर्मल पवित्र धारा न जाने कबसे इस महान् देशको पवित्र करती चली आ रही है, वैसे ही सच्चे संतोंकी परम्परा भी इस देशमें न जाने कबसे अक्षुण्ण चली आयी है और अनन्त कालतक इसी प्रकार अबाध-गतिसे प्रवाहित होती रहेगी ।

गोरखपुरकी एक अमर विभूति—महर्षि योगानन्द

(लेखक—आचार्य श्रीप्रतापादित्यजी एम्० ए०, एल्-एल्० बी०, एडवोकेट)

वाशिंगटन, १९३६ दिसम्बरकी २४वीं तारीख, एक आध्यात्मिक संगठनके उत्सवका अन्तिम दिन था । संगठनके प्रमुख ४३-४४ वर्षके छरहरे बदनके एक संन्यासी विभिन्न अमेरिकी साधकोंको भारतसे ले जाये गये सामानोंका उपहार प्रसादस्वरूपमें वितरित कर रहे थे । इस बार एक वृद्ध अमेरिकन श्री ई० ई० डिकेन्सनकी बारी थी । कागजके पैकेटमें लाल रिबनसे लपेटे हुए उपहारको पाकर ज्यों ही श्रीडिकेन्सनने उस पैकेटको खोलकर देखा, भावनाके आवेशमें लड़खड़ाते हुए श्रीडिकेन्सन उस योगीकी ओर अपलक दृष्टिसे देखते हुए थोड़ी दूरीपर जाकर बैठ गये । अपने इस भावावेशके विषयमें बताते हुए उन्होंने कहा—''तैंतालीस वर्षोंसे मैं इस चाँदीके कपकी प्रतीक्षा कर रहा था । यह एक लंबी कहानी है, जिसे मैंने अपने ही अंदर छिपा रक्खा था । नेब्रस्काके १५फुट गहरे तालाबमें बाल्यावस्थामें खेल-खेलमें मेरे बड़े भाईने मुझे ढकेल दिया था । मैं उसमें डूब-उतरा रहा था कि दूसरी बार जब मैं पानीमें नीचे जा रहा था कि एक प्रकाशपुञ्जके साथ एक भव्य आकृति मुझे सान्त्वना देती हुई दिखायी पड़ी और कुछ ही क्षणों बाद मेरे भाइयोंने एक लकड़ीके सहारे मुझे पानीसे बाहर निकाल लिया । इस घटनासे १२ वर्षोंके बाद सन् १८९३में मैं अपनी माताके साथ शिकागो गया था । प्रसिद्ध 'विश्व-धर्म-सम्मेलन' सम्पन्न हो रहा था । कुछ ही दूरीपर मैंने एक भव्य संन्यासीको मंचकी ओर जाते देखा । मैं अपनी माँसे चिल्लाकर कह उठा—'माँ ! यही वह व्यक्ति है, जो पानीमें डूबते समय मुझे दिखायी पड़ा था ।' हमें बादमें ज्ञात हुआ कि वह भव्य व्यक्ति स्वामी विवेकानन्द थे । उनके व्याख्यानके बाद मैं उनसे मिलने गया । वे मन्दहासके साथ मेरी ओर एक पूर्वपरिचितकी भाँति देखते रहे । मेरे मनमें यह इच्छा तरंगायित होती रही कि 'वे मेरे गुरु होना स्वीकार करें ।' ऐसा लगता है कि उन्होंने मेरे विचारोंको पढ़ लिया और बोले—'मेरे बेटे ! मैं तुम्हारा गुरु नहीं हूँ । तुम्हारा गुरु बादमें आवेगा और वह तुम्हें एक चाँदीका कप देगा ।' वर्षोंकी प्रतीक्षाके बाद १९२५ में जब मैं गुरु पानेके निमित्त अत्यन्त व्याकुल था कि लास एंजिल्समें आपके प्रवचनोंको सुननेका अवसर मिला । पिछले ११ वर्षोंसे मैं आपकी क्रियायोग-साधनाका अभ्यास कर रहा हूँ । कभी-कभी मुझे चाँदीके कपकी बातपर आश्चर्य होता और लगभग पूर्णतया मैंने इस बातसे अपनेको आश्वस्त कर लिया था कि विवेकानन्दके तत्सम्बन्धी अभिवचन मात्र लाक्षणिक थे, किंतु क्रिसमसकी रात्रिमें मुझे वही प्रकाश फूटता दिखायी पड़ा—इस प्यालेके माध्यमसे ।''

जिस योगीने अमेरिकाके उस सम्भ्रान्त व्यक्तिको चाँदीके कपका उपहार देकर चमत्कृत कर दिया था,

उसका जन्म पूर्वी उत्तरप्रदेशके उसी क्षेत्रमें हुआ था, जिससे महात्मा बुद्ध, कबीर और महान् तान्त्रिक गुरु गोरक्षनाथ सम्बन्धित थे। गोरखपुर नामक नगरमें एक बंगाली क्षत्रिय-परिवारमें ५ जनवरी १८९३ को श्रीमान् भगवतीचरण घोषको चतुर्थ संतानके रूपमें एक पुत्ररत्नकी प्राप्ति हुई, जिसका नाम रक्खा गया—मुकुन्दलाल घोष। यही मुकुन्दलाल घोष १९१४ में संन्यास-दीक्षा लेनेके बाद महर्षि योगानन्दके नामसे जाने गये।

गुरु-परम्परा

तन्त्र और योगके क्षेत्रमें साधनाकी अन्तःसलिला अनवरत कालसे चली आ रही है, किंतु उसकी विशेषता यह रही है कि वह प्रच्छन्नरूपमें उपलब्ध न होकर गुप्तरूपसे योग्य साधकोंको ही प्राप्त होती रही है। तन्त्र-साधकोंमें यह विश्वास प्रचलित है कि तन्त्र-साधनाका लोप होनेकी सम्भावना पैदा हो जानेपर सदाशिव ही किसी-न-किसी रूपमें प्रकट होकर तन्त्र-साधनाकी धाराको पुनरुज्जीवित करते हैं। जब उनका अल्पकालीन या सीमित उद्देश्य होता है और जब वे समाजमें प्रच्छन्नरूपमें नहीं आते हैं तो इसे कहते हैं—'सम्भूति' और जब वे प्रच्छन्नरूपमें मानवमात्रके कल्याणके लिये पञ्च महाभूतोंका आश्रय लेकर सामाजिक और धार्मिक क्रान्तिका नेतृत्व करते हुए तन्त्र-साधनाका प्रचार करते हैं तो उसे कहते हैं—'महासम्भूति'। इन्हें 'तारकब्रह्म' भी कहते हैं।

स्वामी योगानन्दने अपनी आत्मकथामें अपनी जिस गुरु-परम्पराका उल्लेख किया है, उसकी प्रथम और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कड़ीका सम्बन्ध जिस महापुरुषसे है, वे पिछली शताब्दीमें 'तारकब्रह्म'के प्रकट रूप माने जाते हैं। स्वामी योगानन्दके गुरु थे श्रीयुक्तेश्वर और श्रीयुक्तेश्वरके गुरु थे श्रीयुत श्रीश्यामाचरण लाहिड़ी महाशय और उनके गुरु थे श्रीबाबा-जी। बाबाजीको लाहिड़ी महाशय 'तारकब्रह्म' कहा करते थे और तन्त्र-साधकोंके गुप्त संकेतोंके अनुसार इन्हीं बाबाजीका सम्बन्ध सदाशिव, श्रीकृष्ण और बुद्धसे था, जो इन तीन रूपोंमें महासम्भूतिके रूपमें प्रकट हुए थे और सम्भूतिके रूपमें उन्होंने कबीर, शंकराचार्य, गोरक्षनाथ और तोतापुरीजीको तन्त्रसाधनाकी दीक्षा दी थी। बाबाजीके विषयमें अभी भी यह माना जाता है कि वे सशरीर प्राप्य हैं और दस-पंद्रह वर्ष पूर्व तोतापुरीजीकी मृत्युके समय उन्होंने अपना अन्तिम दर्शन उनको जमालपुरमें देकर तोतापुरीजीको शरीर छोड़नेकी आज्ञा प्रदान की थी। परमहंस योगानन्दकी आत्मकथाके सम्पादकने अमेरिकाके अनेक साधकोंके अनुभवोंकी चर्चा करते हुए लाहिड़ी महाशयके इस कथनका अनुमोदन किया है कि आज भी जो बाबा नामके माध्यमसे उनकी उपासना करता है, उसपर उनकी कृपा अवश्य होती है। सात-आठ वर्ष पूर्व एक तन्त्रगोष्ठीमें मुझसे एक बंगाली महाशय मिले थे, जिन्होंने मुझसे बताया कि तन्त्रसाधनाकी खोजमें वे लाहिड़ी महाशय (श्रीश्यामाचरण लाहिड़ी) से वाराणसीमें लाहिड़ी महाशयके जीवनके अन्तिम वर्षमें मिले थे। तब उन्होंने उनको बताया था कि बाबाजी इस समय नये शरीरमें 'महासम्भूति' के रूपमें तन्त्र-साधनाके व्यापक प्रचारद्वारा सामाजिक और धार्मिक क्रान्तिकी पृष्ठभूमि बना रहे हैं।

अमेरिकामें महर्षि योगानन्द

महर्षि योगानन्द बाबाजीकी प्रेरणासे ही अमेरिका गये थे और जीवनके अन्तिम क्षणतक वहींपर 'क्रियायोग' का प्रचार करते रहे। उन्होंने ७ मार्च सन् १९५२ को लास एंजिल्समें महासमाधिमें प्रवेश किया, जिस समय वहाँपर श्री एच० ई० विनय० आर० सेन भारतीय राजदूत थे। उनकी मृत्युके बाद कई सप्ताहतक उनका शव विकृतिहीन रूपमें पड़ा रहा और श्रीहैरी टी० रो०, मार्चुरी, डाइरेक्टर, फारेस्ट लान मेमोरियल पार्क, लास एंजिल्सने उनका परीक्षण करके कहा था कि 'सड़नके लक्षणोंका उनके शवमें नहीं पाया जाना हम लोगोंके अनुभवमें अत्यन्त आश्चर्यपूर्ण है। यहाँतक कि बीस दिनोंके बाद भी भौतिक तत्त्वोंका विघटन नहीं दिखायी पड़ा।'

महर्षि योगानन्द सन् १९२० में अमेरिका गये थे और वहाँपर एक आध्यात्मिक संस्था 'सेल्फ रियलाइजेशन फेलोशिप' नामसे स्थापित की थी। सन् १९५५ में श्रीमती दयामाता इसकी प्रधान बनीं, जो महर्षि योगानन्दकी एक शिष्या थीं। इन संगठनोंकी अनेक शाखाएँ अमेरिकामें और अन्य देशोंमें स्थापित हुई हैं। उन्होंने अमेरिकामें ही अपनी आत्मकथा १९४६ में लिखी थी, जिसकी लेखकद्वारा संशोधित प्रति पुनः १९५१ में अमेरिकासे प्रकाशित हुई थी (सेल्फ रियेलाइजेशन फेलोशिप, लास एंजिल्स, कैलीफोर्निया, यू० एस० ए०)। वह पुस्तक इतनी प्रसिद्धि पा गयी कि उसका अनुवाद १४ अन्य भाषाओंमें किया गया है। फिर भी पिछले वर्षोंमें वह उपलब्ध नहीं थी और 'जैको पब्लिकेशन' बम्बईने १९६३ में उक्त संस्थाकी अनुमतिसे यह पुस्तक 'पाकेट बुक्स' के रूपमें प्रकाशित की। प्रकाशनके एक वर्षके अंदर ही इसकी सभी प्रतियाँ बिक गयीं।

शिक्षा और दीक्षा

श्रीमुकुन्दलाल घोष एक विद्यार्थीके रूपमें अध्यापकोंद्वारा अच्छे नहीं माने जाते थे। वे न तो कक्षामें नियमित रहते थे और न अध्ययनमें। उनकी रुचि व्यावहारिक दर्शनमें थी। उन्हें उनके अध्यापक 'आध्यात्मिकतामें मतवाला' और 'पागल साधू' कहा करते थे। ऐसा नहीं था कि वे मोंदे थे, बल्कि अपने गुरु स्वामी युक्तेश्वरके साहचर्यके कारण इतने व्याकुल थे कि वे अपनी पढ़ाई-लिखाईपर ध्यान नहीं दे पाते थे। फिर भी स्वामी युक्तेश्वरकी प्रेरणासे उन्होंने सेरामपुर कालेजद्वारा कलकत्ता विश्वविद्यालयसे स्नातक परीक्षा पास की।

मुकुन्दलालकी प्रथम आध्यात्मिक यात्रा वाराणसीमें एक आश्रममें हुई। उस समय वे सपरिवार कलकत्ता थे। इस आश्रममें इसके संरक्षक श्रीदयानन्दद्वारा उनकी प्रारम्भिक ट्रेनिंग हुई, जिसमें उन्होंने स्वादेन्द्रिय और स्थूल भौतिक पदार्थोंपर आश्रित रहनेकी प्रवृत्तिपर विजय पायी। किंतु उनकी आध्यात्मिक जिज्ञासा अतृप्त ही रही; क्योंकि ध्यान आदिकी आन्तरिक प्रक्रियाओंको वहाँ उन्हें सीखनेका अवसर नहीं मिला। अंदर-ही-अंदर उन्हें यह अनुभव था कि मनको अनुशासित करनेके लिये और आध्यात्मिक उपलब्धिके लिये मात्र बाह्यपूजा और कुछेक नियमोंका पालन ही पर्याप्त नहीं है; बल्कि उस तान्त्रिक यौगिक पद्धतिका सतत अभ्यास भी आवश्यक है, जिससे जीवको शिवमें समर्पित किया जाता है। अपनी इस अन्तर्निहित जिज्ञासु प्रेरणासे एक दिन जब वे गुरुकी खोजमें वाराणसीकी गलियोंमें भटक रहे थे तो एक गम्भीर आकृतिवाले संन्यासीसे भेंट हुई जो आगे चलकर उनके गुरु हुए। यही स्वामी युक्तेश्वर थे। उन्होंने युवकको अपने घर वापस जानेको कहा और कलकत्ताके निकट अपने आश्रमका पता बता दिया। मुकुन्द घर लौटकर लौकिक विद्याका उपार्जन तो करते ही रहे, गुरुके सतत सम्पर्कद्वारा अपने भविष्यके संन्यासी जीवनकी भी पृष्ठभूमि तैयार करते रहे।

स्नातककी उपाधि पानेके कुछ ही समय बाद जब उनके पिता उनको किसी नौकरीमें लगाना चाहते थे, उन्होंने लाहिड़ी महाशयकी उक्तिको चरितार्थ किया कि 'यदि तुम बसन्त (युवावस्था) में परमात्माको आमन्त्रित नहीं करोगे तो वे जाड़ों (निष्क्रिय वृद्धावस्था) में तुम्हारे पास नहीं आयेंगे।' युवावस्थाकी अपनी आध्यात्मिक उमंगमें उन्होंने स्वामी युक्तेश्वर गिरिसे संन्यासकी दीक्षा ली और उनकी ही प्रेरणासे विदेशोंमें प्रचार करने गये।

क्रियायोग

महर्षि योगानन्दने तन्त्र-साधनाकी प्रारम्भिक शिक्षाके रूपमें 'क्रियायोग' का प्रचार किया और उनके आध्यात्मिक जीवनकी बहुमूल्य भेंट क्रियायोगका प्रचार ही था। उनके अनुसार क्रियायोग एक मानसिक एवं शारीरिक प्रक्रिया है जो प्राणशक्तिको स्पन्दित करती है तथा उसकी चरम परिणति होती है—चरम चैतन्य सत्तामें जीव-चैतन्यका समापन। आधुनिक युगमें इसका प्रथम स्फुरण बाबाजीद्वारा और उनकी परम्परामें लाहिड़ी महाशय, स्वामी युक्तेश्वर और महर्षि योगानन्दद्वारा हुआ। क्रियायोगका पूर्ण ज्ञान तो तन्त्रकी गोपनीय पद्धतिके अनुसार गुरु-शिष्य-परम्पराद्वारा ही उपलब्ध है; किंतु इसके संकेत 'गीता' और 'पातञ्जल योग-सूत्र' में पाये जाते हैं। बाबाजीने क्रियायोगके विषयमें लाहिड़ी महाशयको बताया था कि 'उन्नीसवीं शतीमें उन्होंने लाहिड़ी महाशयके द्वारा जिस क्रियायोगका सूत्रपात किया, उसका कृष्ण, पतञ्जलि, ईसामसीह, सेंट जान और सेंट पाल आदि अनेक महान् पुरुषोंद्वारा पूर्वकालमें अभ्यास और प्रचार किया गया था।'

आजका मनुष्य नास्तिकता और आस्तिकताके बीच दोलायित है। धर्म और धर्मसाधनाके विषयमें साक्षर पढ़े-लिखे और अपढ़—सभीका ज्ञान अथवा अज्ञान समान है। इसका मूल कारण यह है कि धर्मकी वास्तविक अनुभूति उसके प्रायोगिक ज्ञानपर निर्भर करती है, जो मनुष्यको काम-क्रोध-लोभ आदि पशु-प्रवृत्तियोंसे ऊपर उठाकर उस महद्भावमें प्रतिष्ठित करता है, वहाँ उपधर्म या सम्प्रदायोंकी दूषित संकीर्ण प्रवृत्ति रह नहीं सकती। तान्त्रिक गोप्य श्रुतियोंके अनुसार भारतवर्षमें आज भी बाबा सदाशिव तारकब्रह्मकी महासम्भूतिके रूपमें क्रमशः तन्त्र और योगकी भागीरथीको विद्वज्जन-मानसपर उतारनेको प्रयत्नशील हैं, जिसमें स्नान करके आगे आनेवाला मनुष्य अनन्त आनन्दकी उपलब्धि कर सकनेमें सक्षम होगा* :

---

* इसके सम्बन्धमें कोई सज्जन कुछ पूछना चाहें तो वे कृपाकर पता लिखा टिकटयुक्त लिफाफा इस पतेपर साथ भेजें—आचार्य श्रीमताप्रादित्यजी एम्० ए०, एल-एल० बी०, सहायक जिला राजकीय अधिवक्ता, अरविन्द आवास, बेतियाहाता, गोरखपुर (उ० प्र०)।

भारतीय धर्म और स्वास्थ्य

(लेखक—श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा)

कई वर्ष हुए राजस्थान विश्वविद्यालयने जयपुरमें विधानशास्त्रपर विचार-गोष्ठीका आयोजन किया था। देश-विदेशके लोग आये थे। भारतीय संविधानकी बड़ी चर्चा रही। उस अवसरपर तत्कालीन राज्यपाल डा० सम्पूर्णानन्दजीने अपने भाषणमें इस बातपर बड़ा आश्चर्य प्रकट किया था कि 'एक भी वक्ताको यह पता नहीं है कि भारत युगोंतक स्वतन्त्र था। कई प्रकारकी शासन-प्रणाली थी। व्यवस्थित राजसत्ता थी। बहुत-सी स्मृतियाँ हैं। उनपर कई-कई भाष्य हैं तथा उनमें प्रायः उन सभी विषयोंपर विचार किया गया है, जिनपर आपलोग यहाँ विचार कर रहे हैं।' डा० सम्पूर्णानन्दजीका कहना था कि 'भारतका संविधान बनानेवालोंने हमारे प्राचीन ग्रन्थोंको देखातक नहीं। केवल विदेशियोंसे लेकर संविधान बनाया; जिसमें धर्म-निरपेक्षता-जैसी मूर्खता भी भर दी गयी। फलतः हमारा यह संविधान हमारी सभ्यता तथा संस्कृतिके लिये निष्प्राण है।'

विदेशियोंने उनकी बात सुनकर पहली बार समझा कि विधान शास्त्रियोंको देनेके लिये हमारे पास भी बहुत बड़ी देन है। इसी प्रकार विदेशोंमें अपने भाषणोंमें जब मैंने यह प्रतिपादित किया कि धर्म-अपराध-दण्डके विषयमें आज समाजशास्त्र चाहे कितना भी आगे बढ़ जाय, पर भारतीय ऋषि-मुनियोंके उपदेशके आगे नहीं बढ़ सकता तो लोग मेरे ऊपर जैसे टूट पड़े। आजके समाजशास्त्रकी सबसे बड़ी देन समझी जाती है—'दण्डितको क्षमा कर देना तथा उसका दण्ड भूल जाना। उसे समाजमें पुनः ले लेना।' मैंने नारद स्मृतिका एक श्लोक पढ़ा, जो सब विचारकोंसे कहीं आगे है—

न किल्बिषेणापवदेच्छास्त्रतः कृतपावनम्।
न राज्ञा धृतदण्डं च दण्डभाक् तद्व्यतिक्रमे॥

(नारदस्मृति अ० १५, श्लो० १८)

"अपराधके पातकसे मुक्त होनेके दो उपाय हैं—(१) प्रायश्चित्त तथा (२) दण्डभोग। इनमेंसे कोई भोगनेपर 'अपराधी' कहनेवालेको 'वाक्-पारुष्य' (मानहानि) का दोष होगा।"

'व्यस्तसमस्तग्रहणं न दोषेण दूषयेत्।
……दूषयन्तं दण्डयेत्॥'

यह नारद-वाक्य है। पर आज हमारे देशमें समाजशास्त्रके कॉलेजकी शिक्षामें विद्यार्थीको संसार भरका समाजशास्त्र पढ़ा दिया जाता है, केवल भारतका नहीं। फिर भी हमारी संतानको भारतीयतासे हटनेका अनायास दोषी ठहराया जाता है।

कालेजोंमें स्वास्थ्य-शिक्षा

यह सब मैं एक विशेष प्रसङ्गमें लिख रहा हूँ। देशके स्वास्थ्यके भावी रक्षक यानी डाक्टरोंको मेडिकल कॉलेजमें आज जो शिक्षा दी जा रही है, उसका एक मुख्य विषय है—'प्रिवेंटिव मेडिसिन' यानी बीमारी न हो, शरीर स्वस्थ रहे—ऐसी शिक्षा। मैं देखकर हैरान हो जाता हूँ कि संसारमें स्वस्थ रहनेकी सबसे बड़ी शिक्षा देनेवाले धन्वन्तरि, चरक, सुश्रुत और शार्ङ्गधरको न तो शिक्षक जानते हैं न छात्र। 'आयुर्वेद' ही ऐसा चिकित्सा-विज्ञान है जो रोग न हो—इसकी शिक्षा पहले देता है। पर हमारे मेडिकल कालेजके लोग अपने ही देशकी चीज नहीं जानते। धन्वन्तरि भगवान्से प्रश्न किया गया कि 'कौन नीरोग रहता है?' उन्होंने उत्तर दिया कि 'अपने शरीरके (पेटके) अनुकूल भोजन करे, पर वह भी थोड़ा खाय (पेट कस न ले)। इन्द्रियोंको वशमें रक्खे। सब कार्य (दिनचर्या) नियमपूर्वक करे। कम-से-कम सौ कदम रोज चले! बायें करवट सोये।'

कोऽरुक् कोऽरुक् कोऽरुक्
हितभुक् मितभुक् जितेन्द्रियो वा नियतः।
सोऽरुक् सोऽरुक् सोऽरुक्
शतपदगामी च वामशायी यः॥

लन्दनमें विश्वके प्रसिद्ध डाक्टरोंकी सभामें मैंने चरकका एक श्लोक पढ़ा था। मेरा कहना था कि क्षयकी बीमारी केवल संक्रामक नहीं है। दिनचर्याके व्यतिक्रमसे भी होती है—ऐसा केवल आयुर्वेदने प्रतिपादित किया है। उदाहरणार्थ—'दिनमें (विशेषकर वर्षाकाल या जाड़ामें) सोनेसे जुकाम हो जाता है, जो बिगड़कर खाँसी, फिर पुरानी खाँसीसे क्षय हो जाता है। अतः दिनमें नहीं सोना चाहिये।' अनेक विदेशी डाक्टरोंने इस श्लोकको नोट कर लिया था—

दिवा स्वापात्तु दोषेण प्रतिश्यायश्च जायते ।
प्रतिश्यायादथो कासः कासात् संजायते क्षयः ॥

हमारे धर्म-प्राण देशने सदैव रोगको ईश्वरका विधान या कर्मका फल माना है । इसीलिये बारंबार कहा है कि औषध-सेवनके समय लोकपालक भगवान् विष्णुका ध्यान करे—

'औषधे चिन्तयेद् विष्णुम् ।'

शार्ङ्गधरने रोगकी व्याख्या करते समय चिदानन्द ज्ञानमय एक पुरुष ईश्वर 'चिदानन्दैकरूपिणः' को समझाकर जड प्रकृति तथा परमात्माके संयोगकी व्याख्या करते हुए बुद्धिकी उत्पत्ति, त्रिविध अहंकार, तन्मात्राओंकी उत्पत्ति, भूतपञ्चकोंकी उत्पत्ति, फिर इन्द्रियोंके विषयोंका निरूपण करते हुए लिखा है—'अज्ञानवश जीव बन्धनोंमें बँधा रहता है । काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि इसके बन्धन होते हैं और जीवात्माको जब आत्मज्ञान हो जाता है, तब वह दुःखोंके बन्धनसे मुक्त हो जाया करता है । ऐसे जीवात्माको बन्धन तथा दुःखमें डालनेवाले रोगसमूह हैं और आरोग्य उसके लिये सुखकारी है ।'

आप्नोति बन्धमज्ञानादात्मज्ञानाच्च मुच्यते ।
तद्दुःखयोगकृद् व्याधिरारोग्यं तत्सुखावहम् ॥
(शा० सं० पूर्व ख०, अ० ५ श्लो० ७३)

रोग और रोगी

पश्चिमीय ओषधि-विज्ञानने निस्संदेह अद्भुत उन्नति की है । पर उसका एक दूसरा संहारक रूप भी हो गया है । अब चिकित्सा गुण, दोष, स्वभावका ध्यान न रखकर, कई रसायनों तथा दवाओंको मिलाकर (मिक्सचर) न देकर, केवल गोलियोंकी 'विषय-सूची' देखकर होती है । हजारों व्यक्ति 'पेनिसीलीन' के इंजेक्शनसे हर साल इसलिये मर जाते हैं कि वह उनके अनुकूल न थी । यूरोपमें गर्भवती स्त्रियोंको स्वस्थ रखनेके लिये ऐसी मार्केकी औषध निकली कि बड़ा आराम मिला । पर सन् १९५७-६३ के बीचमें लगभग १८ हजार ऐसे बच्चे पैदा हुए, जिनके दो नाक, तीन आँख, आधा धड़ नदारद—ऐसे राक्षस बच्चोंको मारना भी गुनाह था, रखना भी असम्भव । तरह-तरहके उपाय कर उन्हें मारा गया । स्वेडनने ऐसी हत्याकी छूट दे दी । वहीं ऐसे बच्चे भेजे जाते थे मार डालनेके लिये ।

भारतीय आचार्योंने चिकित्सकको पहली नसीहत दी है—हेतु, पूर्वरूप, रूप, सात्म्य और जाति—इन विभिन्न उपायोंसे पहले रोगकी परीक्षा करे । तब शास्त्रोक्त विधिके अनुसार चिकित्सा करे, वरना वैद्यको बड़ा पाप लगता है—

हेत्वादिरूपाकृतिसात्म्यजातिभेदैः समीक्ष्यातुरसर्वरोगान् ।

रोग है क्या ? चरक कहते हैं—

रोगस्तु दोषवैषम्यं दोषसाम्यमरोगता ।

'दोषोंका विषम होना रोग है । दोषोंका अपनी मात्राके अनुसार बराबर रहना ही आरोग्य है—आरोग्यका चिह्न है ।'

इस प्रकार हमारे यहाँ रोग तथा चिकित्साको भी धर्मका अङ्ग बना दिया । आज हमारी शिक्षामें 'धर्म-निरपेक्षता'के नामपर भारतीय धर्मग्रन्थोंकी कोई भी चीज पढ़ाना मना है । हम पाश्चात्त्य चिकित्सा-शास्त्रका विरोध नहीं कर रहे हैं । मानवके लिये वह बड़ी भारी देन है । पर शल्य-चिकित्साके जगद्गुरु हम हैं तथा 'प्लास्टिक सर्जरी'—ऐसी बड़ी चीज, जिसमें एक अङ्गसे चमड़ा काटकर दूसरे अङ्गमें लगा दिया जाय—यह हमने सिखाया, यह हमारे डाक्टर न जानते हैं, न मानते हैं । पर विदेशी अब मानने लगे हैं । लन्दनकी प्रसिद्ध दवा बनानेवाली फर्म पार्क डेविस कम्पनीने अपने एक सुन्दर कलेण्डरमें सुश्रुतका प्लास्टिक सर्जरी करता हुआ चित्र दिया है ।

'धर्म' न तो मज़हब है, न 'रेलिजन' । भारतीय धर्म अहिंसा, अस्तेय, सत्य, ब्रह्मचर्य, संयम, सदाचार—ऐसे सद्गुणोंके समुच्चयका नाम है । उससे निरपेक्षता बरतना राष्ट्रीय सामूहिक मूर्खता तथा पतनकी पराकाष्ठा है । भारतीय बुद्धि-जीवियोंको विदेशी बुद्धि देकर हम घोर चरित्र-संकटमें पड़ गये हैं । हमारा उद्धार हम स्वयं करें ।

आज देशमें रोग तथा व्याधि बढ़ती जा रही है, इसलिये कि स्वास्थ्यका मूल मन्त्र हमको नहीं बतलाया जाता । रोग हम जानते हैं, रोगका कारण नहीं । जीवन कृत्रिम है । वासनाएँ उद्दण्ड हैं । हम देहकी रक्षा करते हैं, मनको रोगी छोड़ देते हैं । स्वास्थ्य उसीका ठीक रहेगा, जो शरीरको क्षणभङ्गुर समझकर प्रभुको पाना ही जीवनका मुख्य धर्म समझेगा । यही भारतीय धर्म है, जिसे प्रत्येक मेडिकल कालेजमें पहले बतलाना चाहिये—

दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभङ्गुरः ।
तत्रापि दुर्लभं मन्ये वैकुण्ठप्रियदर्शनम् ॥
(श्रीमद्भा० ११ । २ । २९)

बापू जादूगर था

[राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी-सम्बन्धी तीन संक्षिप्त संस्मरण]

(लेखक—श्रीगुराँदित्ताजी खन्ना)

अवश्य ही राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी जादूगर था और ऐसा विचित्र जादूगर जो अपने कार्यमें पूरा-पूरा निपुण था।

यह जादू था—उसके शुद्ध, पवित्र, निर्मल और ईमानदार हृदयसे निकलनेवाली सुस्पष्ट और सशक्त वाणी, जो हमेशा ही 'सत्यं शिवं सुन्दरम्'के सिद्धान्तको लिये हुए निकलती थी। वह बड़े-बड़े कठोर हृदयों-तकको द्रवीभूत कर देती थी। बड़े-बड़े कंजूसों तथा स्वार्थियों तकको दयार्द्र और दानशील बना देती थी, उन्हें त्यागियों और तपस्वियोंकी कोटिमें ला खड़ा कर देती थी। चोरों-लुटेरों और हत्यारों तकको एकदम भले लोग और सादे-सीधे मानव बनाकर स्वतन्त्रता-संग्रामके सेनानी तक बना देती थी।

उदाहरणके रूपमें यहाँ तीन ऐसे संस्मरण दिये जाते हैं, जो अपने सामने आये हैं और जिनके विषयमें जरा भी संदेहकी गुंजाइश नहीं है। संयोगकी बात ही समझिये कि तीनोंमेंसे दोका सम्बन्ध मेरे अल्पकालीन जेल-जीवनसे है और एकका एक सरकारी अस्पतालसे है।

बातें काफी पुरानी हैं—करीब चालीस-पैंतालीस वर्षसे कमकी नहीं हैं।

(१)

अलीपुर सेन्ट्रल जेल (कलकत्ता) की जिस बैरकमें मैं रहता था, वहीं एक काफी सुन्दर, सुडौल और भव्य बंगाली नवयुवक भी रहता था।

एक दिन उसने आप-बीती सुनायी—

"मैं चोर, उचक्का और भयंकर प्रकारका लुटेरा और हत्यारा था। मुझे पता लगा, एक सरकार बाबू मालिकके बहुत-से रुपये लेकर जमा कराने बैंक जा रहा है। मैं उसके पीछे लग गया और अवसर पाकर उससे रुपये छीनकर भाग खड़ा हुआ। सरकार बाबू भी तुरंत सावधान हो गया और चोर-चोर चिल्लाता हुआ मेरे पीछे-पीछे दौड़ पड़ा। उसकी देखादेखी और भी बहुत-से लोग शोर मचाते हुए मेरे पीछे-पीछे भागने लगे। संयोगसे एक ओरसे महात्मा गाँधीका एक बड़ा भारी जुलूस आ रहा था। मैं फुर्तीसे उसमें घुस गया और एक भले आदमीकी गाँधी-टोपी उतारकर सिरपर रख ली और जोर-जोरसे जुलूसके नारे लगाने लगा। पीछा करनेवालोंकी दृष्टिमें मैं न अब आ सका और बच गया।

जुलूस एक मैदानमें जाकर समाप्त हुआ और एक भारी जनसभाके रूपमें परिवर्तित हो गया।

बापूका एक-एक शब्द तो मैं समझ नहीं सका; क्योंकि हिंदी अच्छी नहीं जानता था, पर सारांश मेरी समझमें खूब आया। मनको पवित्र करने तथा जीवनको बदल देनेवाला ऐसा सशक्त दिव्य भाषण मैंने आजतक कभी न सुना था। यद्यपि सुन चुका था, अनेक भाषण।

मैंने भरी सभामें चिल्लाकर कहा—'छोड़ दी, बापू! आजसे छोड़ दी शराब, जूआ चोरी, लूट-खसोट, हिंसा और सारी दोषकी चीजें।'

सभाकी समाप्तिपर मेरे पापके साथी मुझे बधाई देने और हिस्सा माँगने आये और बोले—'भगवान् जो करता है, अच्छा ही करता है। ससुरा सरकार बाबू गङ्गामें कूदकर मर गया। तुम्हारे रास्तेका काँटा दूर हो गया।'

मैंने चिल्लाकर कहा—नहीं-नहीं, यह भगवान्ने कदापि नहीं किया; यदि किया है तो मैं कहूँगा अच्छा नहीं कियां। मैं पूछूँगा भगवान्से कि 'क्या यही तेरा न्याय है ? एक अपराधीको बचानेके लिये तू निरपराधीको भी अपने पास बुला लिया करता है, ताकि वह अपराधीको दण्ड न दिला सके।' हट जाओ दूर, मेरी आँखोंसे। मैं कुछ नहीं दूँगा। न खुद कुछ रक्खूँगा।'

फौरन मैं नजदीकके थानेमें चला गया और सारी घटना सुनाकर मैंने कुल रुपये, जो बीस हजार थे, थानेदारके सामने रख दिये। उसने मुझे हथकड़ी पहना दी और घटनावाले थानेपर फोन करके वहीं सबको आ जानेका आग्रह किया तथा वे सब लोग आ भी गये, जिनका घटनासे सम्बन्ध था। उनमें अभागे मृतक सरकार बाबूकी पत्नी भी थी। उसे देखते ही मेरे मुँहसे चीख निकल गयी और मैं ढाहें मार-मारकर रोने लगा। कितनी सुन्दर और सौम्य मूर्ति, मैले-कुचैले चिथड़ोंमें लिपटी हुई, साथ छोटे-छोटे भोले-भाले बच्चे। मैंने रोते हुए और हथकड़ियोंसे अपना माथा लहूलुहान करते हुए कहा—'बहिन, तेरे सुहागका लुटेरा मैं हूँ। तेरे पतिका हत्यारा मैं हूँ। मैं तेरे सुहाग-सुखको तो लौटाकर ला नहीं सकता, पर इतना जरूर कर सकता हूँ कि एक भाईके नाते जीवनभर यथाशक्ति तेरी सेवा जरूर करूँगा।' आँसू पोंछते हुए उसने कहा—'भैया! कोई किसीको मारने-बचानेवाला नहीं है। जो भाग्यमें लिखा होता है, वह होकर ही रहता है। तू अपने मनको छोटा न कर।'

मैं उसके धैर्य, संतोष और क्षमाशील गुणसे बहुत प्रभावित हुआ और जब मैं अदालतमें लाया गया तो वहाँ अपने अपराधको स्वीकार करते हुए प्रण किया कि 'मैं जीवनभर इस अनाथ बहिनकी सेवा करूँगा।'

जज मेरे इस प्रणसे बहुत प्रभावित हुआ और उसने मुझे बहुत थोड़ी सजा देकर ताकीद कर दी कि 'बाहर निकलनेपर मैं अपने प्रणका पालन अवश्य करूँ।'

अब मेरी सजाकी मियाद शीघ्र पूरी होनेवाली है। बाहर जाकर अवश्य ही मैं अपनी बहिनकी सेवा करूँगा। मैं पढ़ा-लिखा एक कलाकार हूँ। कोई काम न मिलेगा तो मैं कुलीका काम ही कर लूँगा और अपना प्रण पालता रहूँगा।"

अवश्य ही उसने अपना प्रण निभाया और पूरी तरह निभाया। यह हमें बराबर पता लगता रहा।

(२)

मेरी कुसुमको रियाज करते-करते पाँवमें चोट लग गयी और उसी हालतमें उसने एक नृत्य-प्रोग्राम ले लिया। नृत्य करते-करते पाँव फिर उलट गया और भयंकर चोट लग गयी। फलतः अस्पताल जाना पड़ा।

वहाँ पहले तो दाखिल करनेवाले डाक्टरने दाखिल करनेसे इन्कार कर दिया, पर बादमें जब उसे पता लगा कि यह एक नृत्याङ्गना है तो उसकी दुर्वासना जग पड़ी और उसकी आँखोंमें एक खास प्रकारकी चमक आ गयी।

तुरंत उसने भर्ती कर लिया, पर जगह ऐसी दी जो एक तरहसे एकदम एकान्तमें थी, निश्चय ही डोरे डालनेके लिये। पर उस अभागेको डोरे डालनेका अवसर ही कभी न मिला। मिलता तो उसका फल भी अवश्य वह बदमाश पा लेता। अस्तु!

दाखिल होते ही हमें बतलाया गया कि 'यहाँकी मेहतरानीको रोज कुछ देना पड़ता है, अन्यथा वह बहुत तंग करती है; पोट वगैरह देती ही नहीं' हमने दो आना रोज उसे देना निश्चय किया।

एक दिन वह खुद नहीं आयी और उसकी एक

बहू आ गयी । जब उसे पैसे देने लगे तो वह आश्चर्यान्वित होकर पूछने लगी—'कैसे ?' हमने कहा—'तुम्हारी साससे दो आने रोज देना तय किया हुआ है, उसीके ये चार आने हैं दो दिनके ।'

वह घृणा और क्रोधसे छटपटाती हुई बोली—'छि: छि: घूस ? नहीं बाबा ! न तो मैं यह पापकी कमाई लूँगी और न आजसे अपनी सासको लेने दूँगी ।'

'भगवान् सबको क्षमा कर देते हैं, पर घूसखोरको, हरामखोरको कभी क्षमा नहीं करते ।' उसने फिर कुसुमसे कहा—'बहिन ! हम गाँधीजीके भक्त हैं । उन्होंने हमारी आँखें खोल दी हैं और खोल दी हैं उनमेंसे भी बहुतोंकी, जो मिथ्या जाति-अभिमानमें चूर हैं और हमपर अत्याचार करते चले आ रहे हैं । जहाँ बहिन ! बापू अत्याचारियों और तंगदिलोंके लोगोंको मानवताका पाठ पढ़ाकर यथार्थरूपमें मनुष्य बना रहे हैं, उनसे पाप और दुष्कर्म छुड़ा रहे हैं, उन्हें कुसंस्कारोंसे मुक्त करा रहे हैं, वहाँ हमें भी समझा रहे हैं कि हम अपने समस्त दुर्गुणोंको छोड़ दें । उद्दण्डता त्याग कर विनम्र और विनयशील बनें । शराब न पियें; न आपसमें लड़ें, न दूसरोंसे ।

'बहिन ! मैं देख रही हूँ, बापूका जादू खूब चल रहा है । हमारे बहुत-से जात-बिरादरी-वालोंने शराब पीना छोड़ दिया है । खुद मेरे इधर-उधरके घरवालोंने शराब पीना छोड़ दिया है और उनमें अब परिवर्तन आ गया है ।

'क्या कहूँ बहिन ! हमारा राष्ट्रीय चरित्र एकदम गिर चुका है । इस अस्पतालमें ही नहीं, सभीमें अन्धेर-गर्दी मची हुई है । रिश्वतखोरी और चोरा-चोरी खूब चल रही है । दवाइयाँ सब बाहर-बाहर ही बिक जाती हैं । रोगियोंको मिलता है रंगदार पानी । रोगी मरें चाहे जियें, सबको चाहिये पैसा । ऐसा पतन हो गया है ।'

'खैर, मैं तुम्हारा पूरा बन्दोबस्त कलसे ही करा दूँगी । मेरे पतिदेव सरकार बाबू (शायद डाक्टर सर नीलरत्न सरकार) की बारीके विशेष सफाई मजदूर हैं ।'

कुसुम अहिंसामें विश्वास नहीं करती थी । गाँधी-जीकी सदा ही कटु आलोचना किया करती थी; पर अब वह काफी हदतक बदल गयी । गाँधीजीकी काफी हदतक स्तुति करने लगी और समझने लगी मैं भी काफी हदतक अँधेरेमें थी ।

हरिजन लड़की चली गयी और सचमुच ही अगले दिनसे हमारे लिये सब प्रकारकी सुख-सुविधा उपलब्ध हो गयी ।

(३)

अलीपुर सेन्ट्रल जेल (कलकत्ता) के मेरे एक और अल्पकालीन जीवनमें फिर एक और बड़ी मनोरञ्जक और बापूकी प्रभावयुक्त कहानी सामने आयी जो संक्षेपमें इस प्रकार है—

विनोद चक्रवर्ती एक नौजवान था, शुद्ध खादीके वस्त्र पहननेवाला, कांग्रेसके जलसे-जुलूसोंमें बढ़-चढ़कर हिस्सा लेनेवाला सरगर्म कांग्रेस-कर्मी ।

मैंने देखा उसे एक अखलाकी कैदीके रूपमें । मुझे बड़ा दुःख हुआ । मैंने घृणा और क्रोधके भावसे कहा—'चक्रवर्ती ! आ गया न अपने असली रूपमें । अरे धोखेबाज ! तेरे बारेमें, मेरी निगरानी करनेवाला सी० आई० डी० का एक आदमी मुझसे कहा तो करता था कि यह हंसके वेषमें कौआ है । पर मैं विश्वास न करता था । आज उसका कथन सत्य निकला ।'

विनोद हँस पड़ा और बोला—'भाई ! मैंने हृदय बदला है बापूके प्रभावसे । पेशा नहीं बदला । बदला है तो व्यक्तिगत जीवनके लिये । बदला है जो लोक और परलोक दोनोंके लिये हानिकारक था । गरीबोंकी, अनाथोंकी और मुसीबतमें फँसे लोगोंकी सेवाके लिये नहीं ।

सुनिये, मैंने क्या किया और क्यों किया—

बड़ाबाजारकी सूतापट्टीमें दूधनाथ महादेवके मन्दिरके नजदीक एक सेठकी थोक कपड़ेकी दूकान है । मैं उसके आगे खड़ा सिगरेट पी रहा था । देखा, एक चिथड़े-से पहिने, काफी दाढ़ी बढ़ाये नर-कंकाल हाथ जोड़े, आँखें भरे बड़े दीनभावसे कह रहा है—'सेठजी !' मेरे लड़केका साल खराब हो जायगा । वह कहींका न रहेगा । दया कीजिये आप, डेढ़ सौ रुपये जरूर दे दीजिये, उसके कालेजमें दाखिलेके लिये । मैं लाचार हूँ । कभी आपका मुनीम था । आज बेकार और बीमार हूँ । भगवान् आपका भला करेगा । मैं और मेरा परिवार आपको आशीर्वाद देगा ।'

सेठ कह रहा था—'पाँच दस रुपये लेने हैं तो ले ले । बस, इतने ही तुझे देनेके लिये मेरी अन्तरात्मामें बैठा भगवान् मुझसे कह रहा है ।'

आखिर सेठने जमादारसे कहकर जबरदस्ती उसे दूकानसे नीचे उतरवा दिया । वह हवड़ा पुलकी ओर चल पड़ा । मैं भी उसके पीछे-पीछे हो लिया । आखिर उसे रोककर मैंने कहा—'तुझे डेढ़ सौ रुपया चाहिये न ? आ मेरे पीछे-पीछे । देख, तेरी तकदीर कितना साथ देती है तेरा, पर तुझे भी तकदीरकी मदद करनी होगी । मेरे इशारेपर चलना होगा ।' उसके 'जरूर चलूँगा'—कहनेपर मैंने घात लगायी, और एक सेठका बटुआ उड़ाकर उसे थमा दिया । वह लेकर गायब हो गया । मैं पकड़ा गया । थाने पहुँचा । साथमें बटुएवाला सेठ भी । थानेदार बोला 'मैं इसे जानता हूँ, यह पेशावर अपराधी है—पर आज-कल यह अपराध अपने लिये नहीं, दूसरोंके लिये करता है । आपका रुपया कितना था ?' सेठने कहा—'पाँच सौ ।' मुझे बहुत खुशी हुई । चलो गरीबका काम बना । उससे भी ज्यादा खुशी यह जानकर हुई कि यह सेठ उसी सेठका लड़का या भतीजा है, जिससे गरीब रुपये माँग रहा था ।

आखिर जो हुआ आप देख ही रहे हैं ।

महान् कौन है ?

वर्ण-जाति-धन-जन-यौवन-अधिकार-उच्चपद-विद्या-ज्ञान ।
इनमें किसी वस्तु-स्थितिका भी, जिसके हो न तनिक अभिमान ॥
दीख पड़ें निज दोष सर्वथा, होता रहे भूलका भान ।
दीखें सदा सभीमें सद्गुण, बढ़े सभीके प्रति सम्मान ॥
इन्द्रिय-विषयजनित सब सुख ही लगें सदा विष घोर समान ।
राग-कामना-ममता मिथ्या-अहंकारका हो अवसान ॥
दीखें नित सब प्राणि-पदार्थ-परिस्थितिमें केवल भगवान ।
इस प्रकार जिसका जीवन हो, मानव वही यथार्थ महान् ॥

भगवान्‌को सुना रहे थे

[कहानी—ऐतिहासिक]

(लेखक—श्रीकृष्णगोपालजी माथुर)

श्रीहरि-भजनमें लवलीन थे वे उस समय। सम्राट् अकबरने जाकर सादर प्रणाम किया और संकेत पाकर बैठ गये एक टूटी चटाईपर। देखा चारों ओर, दूसरा कोई आसन ही नहीं था। वहाँ शान्ति थी। सोचा—'बड़ा सुनसान स्थान है। कहाँ आ गया मैं। घुड़सवार, शुतरसवार, कोटवार, सिपहसालार, पहरेदार, नकीब चौबदार, छड़ीदार, चँवर-मोरछलदार, सरदार और अङ्गरक्षकोंसे घिरा मैं, इत्रसे सुरभित रत्नोंसे जड़ित पाल्कीमें गुद्‌गुदे गादी-मसनदपर बैठकर आया हूँ। पाल्कीसे उतरते ही—'निगाह रोशन—कदममुलाहिजा—गरीबनिवाज'—ध्वनियोंसे जयजयकार हुआ था मेरा। और यह टूटी चटाई! पर संतों-ओलियाओंके दरबारमें यही तो होता है। यहाँ मैं गुणग्रहण करनेको आया हूँ। राजसी अभिमान भुला देना चाहिये, ताकि पवित्र मनमें सदुपदेश जग सके। पर स्वामीजी तो मौन हैं। सच है, याद आया, एक बार बाहर पड़ावमें मेरी नमाजी चादरपर एक प्रेमदीवानी स्त्री पाँव रखती हुई निकल गयी। टोंका, तो बोली—

'नर-राची सूझी नहीं, तुम कस लख्यो सुजान ?
पढ़ कुरान बौरे भए, नहिं राचे रहमान।'

भक्ति-रसमें डूब जानेपर यदि भान रहा, तो वह भक्ति कैसी ? वही यहाँ देख रहा हूँ। वह उपदेश मुझे अभीतक याद है।'

सम्राट् अकबरका यह चिन्तन चल रहा था। इतनेमें स्वामीजीका ध्यान भङ्ग हुआ। पूछा—'आज कैसे आना हुआ शाहंशाह ?'

'महाराज! आपके प्रिय शिष्य तानसेन मेरे दरबारमें प्रसिद्ध गायक हैं। गुरु-प्रशंसामें इनके द्वारा आपका परिचय पाकर आपके पुनीत दर्शनोंकी इच्छासे सेवामें आ गया हूँ।' सम्राट्‌ने कर-जोड़ विनीत-भावसे उत्तर दिया।

'दर्शन तो श्रीहरिके करने चाहिये। मैं तो उन अनन्त ब्रह्माण्डनायकके श्रीचरणोंकी रजके करोड़ों भागोंके—असंख्य विभागोंके एक भागके तुल्य भी नहीं हूँ। हाँ, सम्राट्, हमने सुना है, आप संगीतके बड़े प्रेमी हैं। किंतु सुनो—गीत और संगीतमें अन्तर है—

पिला पाये जो अमृत-रस, उसे संगीत कहते हैं।
लहर लाये जो अन्तरमें, उसीको गीत कहते हैं॥

इतना कहकर सुर-सारथी, भक्ति, गान, तान, लय, विलय-रससे युक्त संगीत-शास्त्रके परम मर्मज्ञ ज्ञानधाम स्वामी हरिदासजी मौन हो गये।

कुछ क्षण बीते, बीतते ही गये। सम्राट् अकबरको समय काटना कठिन हो गया। कैसे मौन भङ्ग कराके अपना अभिप्राय प्रकट किया जाय, यह सोचते-सोचते उन्होंने तानसेनको संकेतसे अपने पास बुलाकर धीरेसे कहा—'भाई! ऐसी तरकीब करो, जिससे गुरुजी मौन भङ्गकर गाना सुनावें, इसी उद्देश्यसे तो हम यहाँ आये हैं—तुम्हारे कहनेसे।'

सम्राट्‌की इस बातको आज्ञाके रूपमें समझकर तानसेन बड़े असमञ्जसमें पड़े। गुरु गोविन्दसे भी महान् होता है। गुरु-महिमाकी तुलनामें सम्राट् क्या वस्तु है। इस समय ये सर्वान्तर्यामी श्रीश्रीभगवान्‌के ध्यानमें लीन हैं। कैसे कहूँ कि 'बादशाह सलामत आपके मुखारविन्दसे संगीत सुनने आये हैं।'

इस असमञ्जसको मिटानेके हेतु तानसेनने एक युक्ति निकाली । वे भक्तशिरोमणि सूरदासजीके इस पदको धीरे-धीरे गाते हुए गुनगुनाने लगे—

'प्रभुजी मेरे अवगुन चित न धरो ।
समदरसी है नाम तिहारो चाहे तो पार करो ॥
....

गुनगुनाते हुए तानसेनने संकेतसे सम्राट्को आश्वासन दिया कि 'मेरे इस प्रयत्नसे गुरु महाराजका ध्यान अवश्य ही भङ्ग होकर वे इस पदको आपके सम्मुख पूरा ही गाकर सुना देंगे ।'

हुआ भी यही । इस मनोमुग्धकारी पदकी धीमी ध्वनि कर्णकुहरमें पहुँचते ही स्वामीजीकी हृत्तन्त्री झंकृत हो उठी । धीरे-धीरे नेत्रोन्मीलन करते हुए स्वामीजीने मधुर लय-तानसे इसी पदका गायन करना प्रारम्भ कर दिया—

'प्रभुजी ! मेरे अवगुन चित न धरो ।
समदरसी है नाम तिहारो चाहे तो पार करो ॥
एक लोहा पूजा में राखत इक घर बधिक परो ।
पारस गुन अवगुन नहिं चितवत कंचन करत खरो ॥
प्रभुजी मेरे अवगुन चित न धरो'.......... ।

पूज्य स्वामीजीके मुखारविन्दसे ऐसा भाव-कलापूर्ण प्रार्थना-पदका गान सुनकर, संगीतकी सूक्ष्मताओंके ज्ञाता रसज्ञ सम्राट् अकबर मन्त्र-मुग्ध-से हो गये, बहुत ही आनन्द मिला उन्हें । उन्होंने श्रीस्वामीजीके पदोंमें, प्रशंसा करते हुए अनेक वार प्रणाम किया । इसके पश्चात् पुनः विनयपूर्वक सादर प्रणाम करते हुए अकबर और तानसेन अपने-अपने स्थानोंको लौट गये ।

× × ×

दूसरे दिन अकबरका दरबार लगा । सभासद एवं संगीतकार यथास्थान बैठे । अकबरने सिंहासनासीन हो हर्षपूर्वक कहा—'बहुत वर्षोंतक तुम भारतवर्षके उत्तमोत्तम संगीतज्ञ गायकोंसे संगीत-शास्त्रकी शिक्षा पाते रहे, पर भेद हासिल नहीं हुआ । तत्त्वकी पहचानके बिना वाणीमें रसलीनता आवे तो कैसे ? परंतु अन्तमें जब तुम स्वामी हरिदासजीको यथारीति गुरु बनाकर उनके पाद-पद्मोंमें बैठ संगीत-शास्त्रकी बारीकियाँ सीखने लगे और वर्षोंतक यह क्रम चलता रहा, तभी तुम ठीक तौरपर समझ पाये कि भाव-सङ्गत गीत किसे कहते हैं । यह जो तुमने हमसे एक बार कहा था, वह वास्तवमें कलका पद-गान स्वामीजीके मुखसे सुनकर सच साबित हुआ । हमने आजतक ऐसा गान सुना ही नहीं था ।'

तानसेनने गुरु-प्रशंसा सुनकर अदब-आदाबके साथ अकबरको प्रणाम करते हुए निवेदन किया—'यह सब श्रीमान्की गुणग्राहकताका ही सुफल है ।'

'तो आज वही पद सुनाओ, जो कल गुरुजीने सुनाया था ।' अकबरने आदेश दिया ।

आदेशका पालन करते हुए तानसेन साजबाजके साथ भाव-भङ्गिमासे लय-तान-आलापपूर्वक गुरुजीद्वारा गाया हुआ वही पद सुनाने लगे, जो भावपूर्ण मौनमुद्रामें उनके पूज्य गुरुदेवने अकबरको सुनाया था—

'प्रभुजी ! मेरे अवगुन चित न धरो ।......'

सभी उपस्थित जन सुनकर मुग्ध हो गये, किंतु अकबरको पसंद नहीं आया । बोले—'तानसेन ! तुम्हारे इस पद-गानमें हमें वह आनन्द नहीं मिला, जो स्वामीजीके मुखद्वारा गानेमें कल मिला था । इसका कारण क्या है ? उन्हींके प्रियपात्र शिष्य हो तुम, फिर उसी भाँति क्यों नहीं गाया ?'

आक्रोशका आभास था इस प्रश्नमें । "सत्य बात इन्हें सुनाना ही है; परंतु, सत्य बात सुनकर अधिक क्रुद्ध हो जायँ, तो ? क्योंकि—

राजा जोगी अगिन जल, इनकी उलटी रीति ।
डरते रहियो 'परसराम', ये थोड़ी पालैं प्रीति ॥

'नहीं, नहीं, सीधी-सच्ची बात कहनेमें भय किसका । एक बार इन्हींके सभासद श्रीपतिने समस्यापूर्तिमें स्पष्ट सुना दिया था कि—'जिनको हरिकी कछु आस

नहीं, सो करौ मिलि आस अकब्बरकी ।' तो भी इनसे शर्त तो करा ही लेना चाहिये ।"

इस प्रकारके चिन्तनसे तानसेनको साहस हो आया । बोले—'जहाँपनाह ! सही निवेदन करूँ तो श्रीमान् क्रुद्ध होकर कहीं मुझे दण्डका भागी न बना दें, इसीलिये पहलेसे ही क्षमावाणी करा रहा हूँ, ताकि निर्भय होकर श्रीमान्‌के समक्ष सत्य भेद प्रकट कर सकूँ, जिससे दोनों समयके गीतोंका अन्तर ज्ञात हो जाय और मैं भी निर्दोष साबित हो सकूँ । और यदि श्रीमान्‌की इच्छा हो तो इस गुप्त रहस्यको ज्यों-का-त्यों रहने दूँ, जिससे आपके सम्मानकी रक्षा हो और पूज्य गुरु महाराजकी भी महानता अधिक बढ़ जाय । जैसी आज्ञा हो, वैसा ही करूँ ?'

तानसेनकी यह दलील सम्राट् अकबरको कुछ अटपटी-सी लगी । सोचने लगे—'इस तनिकसे प्रश्नमें ऐसा क्या बड़ा रहस्य छिपा हुआ है, जिसके लिये तानसेन इतनी शर्तें मुझसे स्वीकार करवा रहे हैं ? अवश्य इसमें कुछ बड़ा भेद छिपा हुआ है । यदि ऐसा न होता तो मेरे सदाके दरबारी तानसेन ऐसी बातें मेरे समक्ष उपस्थित नहीं करते । किंतु अब भेद जाननेके निमित्त इन्हें अभयदान तो देना ही पड़ेगा, तभी हम तत्त्व जान सकेंगे ।'

मनमें ये विचार करते हुए प्रकटमें सम्राट् बोले—'हाँ-हाँ, निर्भय होकर कहो । इसमें अपराध तथा क्षमाकी बात ही क्या है ? यह तो संगीत-शास्त्रका विषय है । इस विषयके रूप-रूपान्तरको तथा भेदों-उपभेदोंकी सूक्ष्मताओंको जो जानता है, वही इस विषयमें कुछ कहनेका अधिकारी है ।'

आश्वासन पाकर तानसेनने कहना आरम्भ किया—"श्रीमान् देख रहे थे कि पूज्य गुरुदेव नेत्र मूँदकर प्रभु-प्रेममें पगे पदका मधुर गान कर रहे थे । उस समय उनका मन सब ओरसे हटकर, पूरी—ममता, आसक्ति, विशुद्धता तथा अनन्य प्रेम-भावसे—'सीस मुकुट कटि काछनी, कर मुरली उर माल ।' भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके इस बानकमें रम रहा था और तन-मन भूलकर उसी श्यामसुन्दरको वह पद उसमें मधुर मोहक भक्ति-रस घोलकर सुना रहे थे । अर्थात् अपने मानसिक ध्यानके द्वारा जगदाधार, सर्वव्यापक, सर्वसुखकारी नन्दनन्दन, आनन्दघन, मुरलीमनोहर, अघओघनसावन श्रीकृष्णचन्द्रके पावन पदारविन्दोंमें भेंट कर रहे थे । साथ ही मन-ही-मन इस पदकी लालित्यमयी पदावलीके द्वारा अपने जन्म-जन्मान्तरके पाप-दोष, ताप-शाप क्षमा करा रहे थे उन्हीं नन्दकुमार देवकीनन्दन यशोदाके लाड़लेसे । उस समय गुरुजी बाह्यज्ञानशून्य थे । सम्भवतः श्रीमान् समझ रहे होंगे कि पद आपको सुनाया जा रहा है; पर वास्तवमें ऐसा नहीं था । वे सुना रहे थे प्रभु श्रीश्यामसुन्दरको, अतः गुरुजीके गानमें अपूर्व रस-माधुर्य आया, तो इसमें आश्चर्यकी बात ही क्या है ?

"और मैं आज अभी भरे दरबारमें संगीतकलाकारोंके बीच ऐसे अस्थिचर्ममण्डित राजमुकुटधारी पुरुषके सामने वही पद सुनाने बैठा हूँ, जिसका अस्तित्व आज है, कल नहीं; जिसका साम्राज्य आज है, कल नहीं; जिसका शासन—मयूरासन आज है, कल नहीं । जो नश्वर-तनुधारी दिल्लीश्वर, राजराजेश्वर, महाप्रतापी महान् अकबर सम्राट् हैं, उनके सम्मुख वही पद सुनानेमें वैसी आनन्ददायिनी माधुरी भला मैं कहाँसे लाऊँगा ? जहाँपनाह ! तनिक विचार करें । अभिप्राय यह कि मैं भगवान्‌को न सुनाकर एक सम्राट्‌को सुना रहा हूँ ।"

इस प्रकार अपने ही प्रिय दरबारी तानसेनके द्वारा सत्य-सत्य उत्तर सुनकर सत्यप्रिय नीतिनिपुण सम्राट् अकबरको अत्यन्त आनन्द मिला । उन्होंने तानसेनकी तथा उनके आदरणीय श्रीगुरुजीकी भूरि-भूरि प्रशंसा की और तानसेनको भारी पारितोषिक देकर सम्मानित किया ।

मोहग्रस्त मानव आज किधर जा रहा है ?

मानव-जीवनका लक्ष्य—भगवत्प्राप्ति

ईश्वरकी सृष्टिमें मानव सबसे श्रेष्ठ प्राणी है। ईश्वरने यह एक ऐसे शरीरका निर्माण किया है, जिसमें आकर जीव अनन्तकालसे भटकते हुए जीव-जीवनसे छूटकर अपने नित्य-सत्य-सच्चिदानन्दघन आत्मस्वरूपको या भगवान्‌को प्राप्त करके नित्य वाञ्छनीय अतिदुर्लभ एकमात्र लक्ष्य चरम तथा परम पदपर पहुँच सकता है। ईश्वरने इसके लिये उसको अनन्त साधन दिये हैं और उसे निर्माण, आविष्कार तथा संरक्षणकी प्रचुर शक्ति प्रदान की है। साथ ही उसे ऐसी अत्यन्त उपयोगी तथा अमोघ साधन-सामग्री दी है, जिससे वह यहाँ अपने क्षेत्रमें सर्वाङ्गीण समुन्नति करता हुआ अन्तमें जीवनके परम लक्ष्यको प्राप्तकर धन्य हो सकता है। इसीके लिये वैशेषिक दर्शनके अनुभवी ऋषि कहते हैं—'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।' 'जिससे अभ्युदय (सर्वाङ्गीण समुन्नति) और निःश्रेयसकी सिद्धि (मोक्ष—भगवत्प्राप्ति) हो, वह 'धर्म' है। जगत्‌के मानव-प्राणीको ऋषियोंने इसी 'धर्म'के पालनकी विविध भाँतिसे समय-समयपर शिक्षा दी है और जीवनके इस परम लक्ष्य—भगवत्प्राप्तिको सामने रखकर भारतके सभी क्षेत्रोंके मनीषीगण अपने-अपने कर्तव्यपालनमें लगे रहे हैं। याज्ञवल्क्यका न्यास, जनक तथा अश्वपतिका राज्यपालन, अर्जुनका युद्ध, भीष्मपितामहका महान् तप, तुलाधारका व्यवसाय-वाणिज्य, शंकराचार्यका गृहस्थ-त्याग, तिलककी स्वराज्य-साधना, श्रीअरविन्दका क्रान्तिकारी आन्दोलन, गाँधीकी सत्याग्रह-समन्युक्त राजनीति—सबकी साधना इसी लक्ष्यको सामने रखकर इसी कर्तव्यरूप धर्मपालनके रूपमें थी। ऋषियोंकी संस्कृतिमें 'अर्थ' तथा 'काम'का बहिष्कार नहीं, पर 'अर्थ-काम' हों 'धर्म'से नियन्त्रित और उनका लक्ष्य हो—'मोक्ष'। तभी अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष—चारों 'पुरुषार्थ' होते हैं, जबतक मानव इस धर्मपर आरूढ़ रहता है तथा जबतक अधिकसंख्यक मनुष्य इसीको जीवनका व्रत मानते हैं, तबतक व्यक्ति, समाज, देश, विश्व तथा सभी चराचर-प्राणी अपने-अपने क्षेत्रमें सुखी रहते हैं और मानव-प्राणी स्वयं अपने आदर्श आचरणसे नित्य अनिर्वचनीय सुखका अनुभव करता हुआ सदा स्वयं 'अभय' तथा सबको 'अभय प्रदान करनेवाला' तथा स्वयं 'शान्त' तथा सबको 'शान्ति प्रदान करनेवाला' बना रहता है; क्योंकि उसके मनमें विषय-भोगोंके प्रति राग न होकर विराग रहता है और यह वैराग्य ही वास्तवमें 'अभय' है—'वैराग्यमेवाभयम्' और जहाँ मिथ्या जगत्‌के नाम-रूपमें कामना, स्पृहा, ममता, अहंता नहीं है, वहाँ 'शान्ति' रहती है—

> विहाय कामान्यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
> निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥
>
> (गीता २। ७१)

और शान्तिमें ही सुख है, 'अशान्तस्य कुतः सुखम्।'—'अशान्तिमें सुख कहाँ है?'

वास्तवमें मानवकी मानवता ही इसीमें है कि वह जीवनके परम लक्ष्य भगवत्प्राप्तिको सदा स्मरण रखते हुए ही सब काम भोगासक्तिका त्याग करके केवल लक्ष्यसिद्धिके लिये ही करे। भगवान्‌ने कहा है—'तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर।' (गीता ३। ९) 'अर्जुन! कहीं भी आसक्ति न रखकर भगवान्‌की सेवाके लिये (यज्ञार्थ) ही कर्मका भलीभाँति आचरण करो।' यों कर्म करनेवाला कर्मबन्धनमें न पड़कर तमाम बन्धनसे मुक्त होता है।

वेदमें कहा है—

> ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
> तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥
>
> (शुक्लयजुर्वेद ४०। १; ईश उ० १)

'अखिल जगत्‌में जो कुछ भी जड-चेतनरूप जगत् है, यह समस्त ईश्वरसे व्याप्त है। उस ईश्वरको साथ रखते हुए सबमें सब जगह उसीको देखते हुए त्यागपूर्वक इसे भोगते रहो। इसमें आसक्त मत होओ; क्योंकि धन—भोग्यपदार्थ किसका है? किसीका नहीं है।'

लक्ष्यभ्रष्ट धर्मच्युत मानवकी स्थिति और दुर्गति

शास्त्रों, संतों, महापुरुषों, ऋषि-महर्षियों तथा स्वयं भगवान्‌ने भी मनुष्यको अनेक प्रकारसे बार-बार उसके जीवनका उपर्युक्त लक्ष्य तथा कर्तव्य बतलानेकी कृपा की है, परंतु मनुष्य रजोगुण तथा तमोगुणसे अभिभूत होकर, अग्निमें घी तथा ईंधन डालनेपर कभी भी जिसकी पूर्ति नहीं होती, ऐसे दुष्पूर अनलके समान भोगकामनाके वशमें होकर

जीवनके लक्ष्यसे भ्रष्ट तथा धर्मसे च्युत होता है। भोग-कामना उसके भले-बुरेके ज्ञानको ढक लेती है, उसकी दृष्टि ही बदल जाती है और वह अकल्याणको कल्याण समझकर, कामोपभोगपरायणताको ही जीवनका एकमात्र लक्ष्य तथा कर्तव्य मानकर भोगोंकी प्राप्तिके लिये भाँति-भाँतिके भ्रष्ट आचरणोंमें प्रवृत्त हो जाता है। वह मृत्युके अन्तिम क्षणतक अनन्त चिन्ताओंसे जलता हुआ सैकड़ों-हजारों नयी-नयी कामनाओं और आशाओंकी फाँसियोंमें बँधा रहता है तथा आत्माका पतन करनेवाले एवं नरकके द्वाररूप काम-क्रोध-लोभके परायण होकर अनवरत अन्यायाचरणमें लगा रहता है। व्यर्थकी नयी-नयी आकाङ्क्षाओंकी पूर्तिके लिये नित्य नये-नये 'अनर्थ' करता है, वैर-विरोध, हिंसा-हत्या करता है और मोहजालसमावृत होकर निरन्तर पापचिन्तन, पापकर्म करता तथा भयानक दुःख-क्लेशका अनुभव करता रहता है। सत्कर्मरूप धर्म-पालनके द्वारा भगवत्स्वरूप विश्व-चराचरकी सेवा करते हुए मोक्षकी प्राप्तिके लिये मनुष्यको कर्म करनेकी स्वतन्त्रता दी गयी थी और उसे बता दिया गया था कि अमुक कर्म वैध—कर्तव्य है, अमुक अवैध—त्याज्य है। पर वह मोहवश भोगासक्ति तथा भोग-कामनाके वश होकर कर्मस्वातन्त्र्यका दुरुपयोग करने लगा और ऐसे-ऐसे जघन्य कर्म किये कि जिनके फलस्वरूप वह पशु-पिशाचसे भी गया-बीता हो गया। ऐसे असुर-मानवोंके लिये भगवान् मानो दुःख-सा प्रकट करते हुए कहते हैं—

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥
(गीता १६। २०)

'ऐसे मूढ लोग मुझको (भगवान्‌को) तो प्राप्त होते ही नहीं, जन्म-जन्ममें आसुरी योनिको प्राप्त होते हैं और फिर उससे भी अतिनीच गतिमें जाते हैं—घोर अशुचि नरकोंमें पड़ते हैं।'

'शुक्लयजुर्वेद' या 'ईशावास्य उपनिषद्'में कहा गया है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥
(ईश० उ० ३)

'असुरोंके जो प्रसिद्ध लोक (नाना प्रकारकी आसुरी योनियाँ एवं नरकरूप लोक) हैं, वे सभी अज्ञान तथा दुःख-क्लेशरूप महान् अन्धकारसे आवृत हैं। जो कोई भी आत्माकी हत्या करनेवाले (मानव-शरीरको प्राप्तकर उसे भोग-कामनाकी पूर्तिमें ही विता देनेवाले) मनुष्य हैं, वे मरकर उन्हीं भयानक लोकोंको बार-बार प्राप्त होते हैं।'

श्रीमद्भागवतमें भगवान् श्रीकृष्णने उद्धवसे कहा है—

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं
प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं
पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा॥
(११। २०। १७)

'जीव-जीवनको परम लक्ष्यतक पहुँचानेवाला मनुष्य-शरीर अत्यन्त दुर्लभ होनेपर भी अनायास सुलभ हो गया है। यह संसारसागरसे पार जानेके लिये एक सुदृढ़ नौका है। शरण ग्रहणमात्रसे गुरुदेव—संत इसके केवट बनकर पतवार संचालन करने लगते हैं और स्मरणमात्रसे ही मैं (भगवान्) अनुकूल वायुके रूपमें इसको लक्ष्यकी ओर बढ़ाता रहता हूँ। इतनेपर भी जो मनुष्य इस शरीरके द्वारा संसारसागरसे पार नहीं हो जाता, वह तो अपने ही हाथों अपने आत्माकी हत्या करता है।'

यह सब होनेपर भी मनुष्य मोहवश लक्ष्य-भ्रष्ट होकर कर्तव्यसे या धर्मसे च्युत हो जाता है। वर्तमान समयमें पिछले कुछ कालसे विश्व-मानवकी मानसस्थिति मोहवश भोगकामनाके अत्यन्त वश होकर उत्तरोत्तर शोचनीय होती जा रही है। वह लक्ष्यभ्रष्ट तथा कर्तव्यच्युत हो रहा है। उसकी बुद्धि सभी विषयोंमें विपरीतदर्शन करने लगी है। इससे पाप तथा पापाचारियोंकी प्रबलता उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। मानवका नैतिक स्तर बहुत ही नीचा हो गया है। चारों ओर केवल 'अर्थ', 'अधिकार' तथा 'अवैध भोग'की अदम्य लालसा, क्षुद्र सीमित स्वार्थकी पूर्ति, अज्ञानवश आत्म-विनाशमें प्रवृत्ति आदि पतनकारक स्थिति हो रही है। इसीके कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं। इनके पढ़नेसे पता लगेगा कि आज मनुष्य स्वयं ही अज्ञानविमोहित होकर कितनी शीघ्रतासे आत्मविनाश, घोर दुःख-क्लेश, भयानक नरक-यन्त्रणाभोग तथा अनन्त कालतक पतनके भीषण गर्तमें गिरने जा रहा है। वह उन्मत्तकी भाँति अपनेको घोर दुःख-दावानलमें बड़े चावसे झोंक रहा है और भीषण नरकानलमें दग्ध होनेके लिये दौड़ रहा है।

पाश्चात्य देशोंमें मानवताका नाश

साम्यवाद, समाजवाद, पूँजीवाद, साम्राज्यवाद, प्रजातन्त्रवाद, सम्प्रदायवाद तथा उनके अनेक अवान्तर भेदके रूपमें सैकड़ों-हजारों वादोंकी सृष्टि हो रही है और वे लोक-परलोकके आत्म-कल्याणको भूलकर परस्पर बड़ी निर्दयता तथा अमानुषिकताके साथ एक-दूसरेको गिराने तथा नष्ट करनेमें लगे हैं। पिछले दिनों 'स्पेक्टेटर' (Spectator) पत्रमें छपा था—'हमलोगोंने ड्रेसडनपर बमबारी की और फिर भी ऐसा करेंगे। अमेरिकाने जापानपर बम गिराये और फिर गिरा सकता है। जर्मनीने लाखों यहूदियोंको भून डाला। रूसमें स्टालिनका (हिंसा-हत्या) महान् आतङ्क (Great Terror) चलता रहा और चीनके लिये लाखों लोगोंको मौतके घाट उतार देना नगण्य बात है। ऐसी भीषण घटनाएँ और इन रक्तपातोंका क्या अर्थ है!'[1] सारा संसार ही भीषण विनाशकी ओर अग्रसर हो रहा है। बड़े-बड़े बुद्धिमान् विद्वान् असुर-भावाक्रान्त होकर इसीमें मङ्गल समझ रहे हैं और विज्ञानका उपयोग भी इसी विनाश-कार्यके लिये किये जानेकी तैयारीमें हो रहा है। यह मनुष्यके मानवतासे पतनका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

यूरोप-अमेरिकामें हिंसा-हत्याओंकी संख्या बढ़ रही है और मनुष्य नयी-नयी क्रूरताएँ दिखला रहा है। इधर कई हवाई जहाजोंका अपहरण किया गया और उनमें बैठे निर्दोष यात्रियोंको मारनेकी धमकी दी गयी। कुछ दिन पूर्व एक उन्नीसवर्षीय नवयुवक विद्यार्थी बर्नर्ड लार्टिल (Bernerd Lortle) क्यूबेकके भूतपूर्व श्रममन्त्री श्रीपियरी लापोर्टकी हत्याके अपराधमें पकड़ा गया था[2]। उसने बताया कि 'श्रीपियरी महोदयका अपहरण करके लाया गया, तब उनकी आँखोंपर पट्टी बाँध दी गयी थी और हाथोंमें हथकड़ियाँ डाल दी गयी थीं। उन्होंने जब यातनासे घबराकर भागनेकी चेष्टा की, तब उनको मार डाला गया।' उनका अपराध यही था कि वे एक प्रजातन्त्रवादी सरकारके अङ्ग थे। यह कितनी बड़ी बर्बरता है। अपक्वबुद्धि लड़कोंको भड़काकर उनसे ऐसे नृशंस अपराध कराये जाते हैं। सारे यूरोप तथा अमेरिकामें जघन्य अपराधोंकी संख्या बड़ी तेजीसे बढ़ रही है और आज कहा जा रहा है कि संसार उन्नति कर रहा है!

1. 'Spectator' 12-9-70
2. Statesman'' 9-11-70

भारतमें नक्सल-पंथी

यूरोप ही क्यों, हमारे भारतमें भी आज चारों ओर हिंसामय उपद्रव बढ़ रहे हैं। खून, चोरी, डकैती, आगजनीकी घटनाएँ अधिकी तरह बढ़ रही हैं। पश्चिम बंगालमें एक 'नक्सल-पंथ' नामका हिंसकवाद साम्यवादके अङ्गरूपमें ही प्रकट हुआ है। कहते हैं, यह रूसविरोधी है और चीनसमर्थक है—इसीसे मार्क्सवादी लोगोंके साथ नक्सल-पंथियोंकी हिंसामयी मुठभेड़ें नित्य ही होती रहती हैं। कहा जाता है कि ये अपनेको 'माओवादी' कहते हैं और इन्हें भारतमें अशान्ति तथा आतङ्क फैलाने तथा अराजकता उत्पन्न करनेके लिये विदेशोंसे प्रचुरमात्रामें आर्थिक तथा शस्त्रास्त्रके रूपमें सहायता मिलती है और ये चीनकी सहायतासे एक भीषण सशस्त्र क्रान्तिकी योजना बना रहे हैं। इनका प्रसार देशभरमें हो रहा है। पश्चिम बंगालके बाद बिहार तथा आन्ध्रप्रदेशमें इनकी क्रूर क्रियाएँ हो रही हैं। ये राहचलते या घरोंमें घुसकर अकस्मात् आक्रमणकर निरीह निर्दोष लोगोंकी नृशंस हत्या, डकैती, पुलिसपर हमले, पुलिस अधिकारियोंकी हत्या, बस-मोटरें जलाना, विद्यालय-कालेजोंमें आग लगाना तथा अन्य तरहसे नुकसान पहुँचाना, राष्ट्रीय स्मारकोंपर हमले करना, देशपूज्य विद्वानों तथा नेताओंकी मूर्तियों तथा चित्रोंको तोड़ना-फाड़ना, सरकारी इमारतोंपर लाल झंडे फहराना और माओके सिद्धान्तोंके नारे-पोस्टर लगाना आदि राष्ट्रविरोधी हिंसामय अकल्याणकारी कार्य करते रहते हैं।

'नक्सल-पंथ'का वैसे कोई अर्थ नहीं। नक्सलवाड़ी आसामका एक स्थान है, वहाँ कुछ समय पूर्व हिंसामय उपद्रव हुआ था। वैसा उपद्रव करनेवाले कोई भी क्यों न हों, आज 'नक्सल-पंथी' कहलाते हैं। इनमें ऐसे लोग भी हैं कि जिनका पेशा ही अपराध करना है। पर अब तो जो भी हत्या, खून, लूट करे, वही 'नक्सलवादी' है। इनमें अधिकांश कम उम्रके अपरिपक्वमति लड़के हैं, जिन्हें न मार्क्सके सिद्धान्तोंका पता है और न माओके। उदाहरणस्वरूप पिछले दिनों कलकत्ता पुलिसने तीन सौ नक्सलवादियोंका विवरण प्रकाशित किया था। उनमें २१० तो ऐसे थे, जिन्होंने किसी सिद्धान्तको पढ़ातक नहीं था, ५० ने कुछ पढ़ा था, शेष ४० का अध्ययन था। इनमें ११८ उन्नीस वर्षकी उम्र तकके थे, जिनमें ७ तो १५ वर्षकी आयुसे भी कमके थे, १३२—२०से २५ वर्षकी आयुके थे, बाईस—२६ से ३० तककी उम्रके और इक्कीस—३०से अधिकके। इनमें ५६ ऐसे थे, जो

सर्वथा अशिक्षित थे और १०९ केवल दसवें दर्जे तक पढ़े थे[3]।' इस विवरणसे पता लगता है कि इनमें अधिकांश लड़के बेचारे कच्ची बुद्धिके निर्दोष हैं। उन्हें भड़काकर, मिथ्या जोश दिलाकर उनसे इस प्रकारके जघन्य अपराध कराकर उनके भविष्यको और लोक-परलोकको बिगाड़ा जाता है। शास्त्रमें कहा है—'पाप तीन प्रकारसे होते हैं—कृत, कारित और अनुमोदित—स्वयं करे, कहकर करवाये और करनेवालेका समर्थन करे।' यह निश्चित है कि पाप-कर्मका फल अवश्य भोगना ही पड़ेगा। यमराजके 'न्याय' और 'दण्ड'से न कोई 'नारा' बचा सकेगा, न कोई 'वाद-सिद्धान्त', न 'युक्तितर्क' और न 'बहुमत'। आज कोई आसुरीवृत्तिका मनुष्य अपने राक्षसीकर्मकी सफलतामें खुशियाँ मना ले, पर उसका कठोर फल उसे अवश्य ही भोगना पड़ेगा। जो किसी भी निमित्तसे मरता है, वह तो अपने प्रारब्धसे ही मरता है; पर मारनेवाला नवीन हत्याकर्मका पाप करके दण्डका भागी होता है। फिर जो लोग अबोध बालकोंको भड़काकर उन्हें कुमार्गगामी बनाते हैं, वे तो विशेष अपराध करते हैं। यद्यपि इस समय उन लोगोंसे कुछ कहना एक प्रकारसे व्यर्थ प्रयास या वातुलता मात्र है, पर पाठकोंमेंसे कोई भी यदि उस दलके सम्पर्कका हो तो वह अपने कुकृत्यपर विचार करके भविष्यकी भयानक यन्त्रणासे बचे। छोटे बालकोंको ऐसे लोगोंकी बात नहीं माननी चाहिये और इन लोगोंको, इन बच्चोंको कुशिक्षा देकर उनका भविष्य नहीं बिगाड़ना चाहिये। यह हमारा उनसे विनीत प्रार्थना है।

पर चाहे जैसे भी हो, इस प्रकारके जघन्य अपराध शीघ्र बंद होने चाहिये। इस सम्बन्धमें भारतसरकारकी क्रियाशून्यता आश्चर्यजनक तो है ही, महान् दुःखजनक भी है। भारतसरकारके वरिष्ठ महानुभावोंको कर्तव्यपरायण होकर शीघ्र-से-शीघ्र इस पापके प्रवाहको प्रबल प्रतिबन्धकोंके द्वारा रोकना चाहिये।

राजनीतिक क्षेत्रमें पतन

मनुष्यका भोगासक्तिके कारण जब स्वार्थ सीमित हो जाता है, तब वह विश्व-चराचर, मानवजाति, देश-जाति-धर्मको भूलकर केवल अपने नाम-रूपके व्यक्तित्वके स्वार्थ साधनको ही परम कर्त्तव्य मान लेता है। उस समय वह नाम चाहे 'विश्वहित'का लेता हो, पर उसकी मानस-सीमा व्यक्तिसे आगे बढ़ी हुई नहीं होती। प्रायः यही स्थिति आज हमारे देशके राजनीतिक जगत्के अधिकांश महानुभावोंकी है। उनकी नीयत बुरी नहीं, दृष्टि ही बदल गयी है। इसीसे 'जनतन्त्र' आज 'असुरतन्त्र' बनता जा रहा है। प्रथम तो 'ईमानदारी'का चुनाव ही नहीं होता। धन, जन, कौशल, बल, मिथ्या वायदे—सभी साधनोंसे बहकाकर अपने पक्षमें वोट लिये जाते हैं और यह भी कुछ छिपा-सा सत्य है कि जिनका वश चलता है, वे अपने चुनावकी सफलताके लिये प्रचुर धन व्यय करते हैं और वह धन उन व्यापारियोंसे आता है, जो अवैधरूपसे धन कमाते हैं और कहीं भी जमाखर्च न करके वह धनराशि चुनावके किन्हीं उम्मीदवारको इस आशासे देते हैं कि 'ये यदि जीत गये और यदि भाग्यसे कहीं मिनिस्टर हो गये तो दूना-चौगुना धन कमा लेंगे।' वे न दान करते हैं, न सेवा। खुला इन्वेस्टमेंट करते हैं—जुआरीके दावकी तरह। अब बताइये—ऐसे धनसे चुनावमें जीते हुए लोग किस मुँहसे इस प्रकारके धनका विरोध कर सकते हैं? शुरुआतमें ही क्षुद्र स्वार्थको लेकर ही यह अनर्थ होता है, फिर आपसकी दलबंदी, बात-बातमें दल बदलनेकी क्रिया, एक दूसरेपर दोषारोपण क्या यह सिद्ध नहीं करते कि देशहित उनके सामने नहीं है—है केवल अपने व्यक्तित्वका स्वार्थ ही। इसी दूषित मनोवृत्तिके कारण और भी अनेक दोष आ गये हैं और यही कारण है कि देशके किसी भी प्रान्तकी सरकार आज सर्वांशमें स्वस्थ नहीं है और न सदस्योंमें ही परस्पर प्रेम, सौहार्द, विश्वास तथा विशुद्ध सेवाकी भावना है। ये सभी महानुभाव देशके प्रमुख लोग हैं, बुद्धिमान् हैं, अतः हम इनसे साग्रह-सप्रेम अनुरोध करते हैं कि इन्हें गहराईसे विचारकर ऐसा आदर्श जीवन बनाना चाहिये, जिसका अनुकरण करके जनता गिरते हुए जीवनस्तरसे ऊपर उठकर उच्च जीवन प्राप्त करे। जो कुछ भी करें, भगवान्का स्मरण करते हुए—अध्यात्मके आधारपर जनसमूहरूप भगवान्की सेवाके लिये ही करें। यही हमारा आदर्श है।

गरीबों तथा मजदूरोंको बहकाकर उन्हें दुखी करना

गरीबों तथा मजदूरोंके प्रति सहानुभूति दिखाकर उनमें अपने प्रति श्रद्धा उत्पन्न कराने तथा चुनावके समय उनके वोट प्राप्त करनेके लिये कई तरहकी ऐसी बातें की जाती हैं, जो देखनेमें बड़ी सुहावनी लगती हैं, परंतु उनसे गरीबों तथा मजदूरोंका वास्तवमें हित न होकर अहित ही

3. 'Sarvodaya', December 1970, page 278

होता है तथा देशका तो अहित होता ही है। उनमेंसे उदाहरणार्थ कुछ बातें ये हैं—

(क) 'उद्योगपतियोंको सीधे रास्तेपर लानेके लिये हड़ताल तथा घेराव करने चाहिये तथा ऐसे करने चाहिये जिसमें उद्योगपतियोंकी आर्थिक हानि हो और वे मजबूर होकर तुम्हारी बात मान लें।' पर अधिकांशमें होता यह है कि यदि लंबी हड़ताल चलती है तो मजदूरोंकी मजदूरी मारी जाती है, उनका जीवन दुखी हो जाता है। कारखाने बंद हो जाते हैं या उनका स्थानान्तरण हो जाता है, तब तो मजदूरोंकी विपत्तिका कोई पार ही नहीं रहता। उद्योगपतियोंकी आर्थिक हानि अवश्य होती है, पर वे तो सह लेते हैं, लेकिन मजदूर बेचारोंके लिये तो आफतका पहाड़ ही टूट पड़ता है। मजदूर नेतागण सहजमें समझौता नहीं होने देते। इससे उद्योगोंमें जितनी रुकावट होती है, उतनी ही देशकी भी हानि होती है।

(ख) 'पैसा अधिक लिया जाय और काम कम-से-कम किया जाय।' मजदूर इन वाक्योंसे बहक जाते हैं, फलतः उत्पादन कम हो जाता है। चीजें महँगी हो जाती हैं और उसका भार गरीबोंपर ही अधिक पड़ता है। जितना उत्पादन कम होगा, उतनी ही देशकी भी बरबादी होगी।

(ग) 'उद्योगोंका राष्ट्रीयकरण करना।'—यह एक बड़ा रहस्यमय मोह है। इससे गरीबोंको, मजदूरोंको तो कुछ मिलता ही नहीं, हाँ, सहानुभूतिके लिये उनसे काम कम करवाया जाता है, जिससे उत्पादन कम होकर चीजें महँगी पड़ती हैं। दूसरे, व्यापारी अपने हानि-लाभको समझते हैं और उनको जरा-सा घाटा भी सहन नहीं होता; पर सरकारी उद्योगोंके संचालक अधिकारीगण न तो प्रायः घाटेसे दुखी होते हैं और न वे घाटा घटानेकी कला ही जानते हैं। इससे सरकारी उद्योगोंमें बड़ा घाटा हुआ करता है। हाँ, इससे संचालक अधिकारी तथा कहीं-कहीं मिनिस्टरोंको लाभ अवश्य होता है।

ऐसी और बहुत-सी बातें हैं, जिनके द्वारा गरीबों तथा मजदूरोंको बहकाकर उनको नुकसान पहुँचाया जाता है और देशकी हानि की जाती है। पूछनेपर मार्क्सके नामपर सिद्धान्तकी बात कह दी जाती है कि 'मजदूरोंकी हानि हो जाय, कुछ मजदूर मर जायँ तो भी आपत्ति नहीं; इससे असंतोष तथा अशान्ति बढ़कर क्रान्ति होगी, तभी मजदूरों, गरीबोंका भविष्य उज्ज्वल होगा।' जहाँ भारतीय सिद्धान्तमें 'संतोष' तथा 'शान्ति' वाञ्छनीय थी, वहाँ आज हम मोहवश 'असंतोष' और 'अशान्ति'को लाभदायक मानते हैं। क्या विडम्बना है!

व्यापारमें पतन

भोगवासना तथा नीच सीमित स्वार्थके कारण ही व्यापारीवर्ग अवैध (पाप-) कार्य करने लगा है। खानेकी चीजें, दवाइयाँ, तेल, घी आदिमें ऐसी-ऐसी चीजें मिला देना, जो अपवित्र, धर्मनाशक, स्वास्थ्यनाशक, विषवत् काम करनेवाली हों; एकके बदले दूसरी चीज, दवा आदि दे देना; असलीके बदले नकली दे देना, ये सब बहुत बड़े पाप हैं और अधिकारीवर्ग रिश्वत लेकर इस प्रकारके अनेक पापोंके चलनेमें सहायता करता रहता है। यह सब हमारे पतनका चिह्न है। इससे बचनेकी बड़ी आवश्यकता है।

विद्यार्थियोंका जीवन नष्ट करना

विद्यार्थियोंको उकसाया जाता है। उन्हें व्यवस्था न मानने, उद्दण्डता करने तथा माता-पिता, गुरुजनों एवं अध्यापकों-आचार्योंका अपमान करने, पढ़ाई न करके व्यर्थके आन्दोलनोंमें पड़नेकी बातें बड़ी आकर्षक भाषामें समझायी जाती हैं और उनके जीवनको नष्ट किया जाता है। बच्चे निर्दोष तथा सरलबुद्धि होते ही हैं। अपने भविष्यकी बात नहीं सोच पाते और बातोंमें आकर कुछ भी करने लगते हैं!

मातृजातिका पतन

दुनियाभरमें सतीत्व, मातृत्व तथा पातिव्रतके लिये भारतकी स्त्रियाँ सर्वोच्च मानी जाती थीं। कालेजोंकी शिक्षा, विदेशियोंके कुसङ्ग, असत्साहित्य-प्रचार, सिनेमाका पाप, उच्छृङ्खल प्रवृत्तियोंका आदर तथा किसी अंशमें पुरुष-जातिकी बेसमझी तथा दुर्व्यवहारके कारण भारतकी वे आदर्श माताएँ, वे गृहिणियाँ, वे देवियाँ—न मालूम क्या बनती जा रही हैं! यह बहुत बड़ा अशुभ लक्षण है। माँ बिगड़ी तो संतान बिगड़ेगी ही। आज हमारे सामने भारतका अतीत गौरव नहीं है, हमारे सामने है—पाश्चात्य जगत्की उच्छृङ्खल प्रवृत्तियाँ, मनमाना आचरण और वहाँकी प्रत्येक बातमें उसके महत्त्वपूर्ण होनेकी मूर्खतापूर्ण श्रद्धा! उन देशोंका क्या हाल है, यह प्रायः बहुत कम लोग जानते हैं।

अमेरिका तथा इंग्लैंड आदि देशोंमें जघन्य अपराध बढ़ते जा रहे हैं। इतना असंतोष है कि बात-बातमें आत्महत्या तथा खून होते हैं। जापानमें पहले बहुत कम आत्महत्या होती थी, वहाँ अब लगभग ३०००० सालाना आत्महत्याएँ होती हैं—पहलेसे लगभग आठगुनी। युनाइटेड किंगडममें लगभग एक लाख सालाना गर्भपात होते हैं—ग्यारह वर्षकी बच्चियोंतकके। यह वहाँकी उन्नति है और हम उसके पीछे पागल हैं! इस ओर विशेष ध्यान देना आवश्यक है।

मांसाहारका प्रचार

एक बहुत बड़ा पाप और बढ़ रहा है। वह है—मांसाहारका प्रचार। सरकारें इस काममें बड़ी सहायक हैं और मुस्तैदीसे काम कर रही हैं। बड़े-बड़े वैज्ञानिक कसाईखाने कई प्रान्तोंमें खुलने जा रहे हैं। इसके अतिरिक्त मुर्गी-उद्योग, मत्स्य-उद्योग, शूकर-उद्योग आदि भी बढ़ रहे हैं। इन पशु-पक्षियों—जानवरोंको अधिक-से-अधिक संख्यामें पैदा करना और उन्हें मनुष्यका आहार बना देना! मानो भयानक कसाई-साम्राज्य हो। यह सब करके हम चाहते हैं—सुख। कितना मोह है? जो दूसरे जीवोंके प्रति अत्यन्त निर्दय है, जो अपना पेट भरनेके लिये हजारों-लाखों जीवोंकी हत्या-हिंसा करता-कराता है, वह कैसे सुखी होगा?

लाटरीका पाप

कुछ समयसे 'लाटरी' नामक एक नया पाप और शुरू हुआ है—सो भी सरकारी स्तरसे। बिना ही कुछ किये-कराये एक ही साथ लाखों रुपये मिल जानेके लोभमें लोग लाटरीकी टिकटें खरीदते हैं। पता नहीं, सरकारोंने कितने करोड़ रुपये प्रलोभनमें पड़े हुए गरीबोंको ठगकर इस जूएके कुकृत्यसे प्राप्त किये हैं। सरकारको इसके 'नैतिक पतित' रूपपर विचारकर इसे तुरंत बंद कर देना चाहिये।

भगवान्‌से प्रार्थना

मोहविभ्रमरत, भगवद्विमुख, भोगोन्मुखी मानव-प्राणी आज पता नहीं, कितने पतनके पथोंसे नीचे गिरता जा रहा है। यहाँ बहुत थोड़े-से ऐसे पथोंका संकेत किया गया है। पता नहीं, भगवान्‌का प्रिय, अमृतका पुत्र मानव अपने एकमात्र परम लक्ष्यसे भ्रष्ट और धर्मच्युत होकर किस सीमातक गिरेगा? कहाँ तो मानवको जीवनके परम लक्ष्य भगवान्‌की प्राप्तिके लिये ही आजीवन समस्त विचार-कार्य करने चाहिये, कहाँ आजका मानव उसके सर्वथा विपरीत अपनेको नरकानलमें जोरोंसे झोंकता जा रहा है! भगवान्‌से प्रार्थना है कि वे सबको सद्बुद्धि दें—सबको सुखी करें—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग् भवेत्॥

बस तू ही तू

ये सिन्धुकी लहरें समा मुझमें कहाँको खो गईं?
मैं उड़ चला आकाशमें, बिखरा, कहाँ सत्ता गई?
जब खोजता निजको न पाता नामका भी हाँ पता।
मैं लापता, वह लापता, तू खोजता, किसको? बता?

× × × ×

अणु रेणुमें मुझको मिला तेरा सजीव विलास है।
ब्रह्माण्ड महदाकाशमें तव तेज ज्योति प्रकाश है॥
जीवमें, शिवमें, तु ही नर-नारियोंमें तू ही तू।
हैरान हूँ मैं खो गया तुझमें, रहा बस तू ही तू॥

× × × ×

—हरिभाऊ उपाध्याय

एक महात्माका प्रसाद

(प्रेषक—श्री 'माधव')

जीवन एक है, परंतु साधन-दृष्टिसे दो भागोंमें विभाजित हो सकता है—प्रवृत्ति और निवृत्ति। प्रत्येक प्रवृत्तिका उद्गमस्थान है 'देहाभिमान' तथा विद्यमान 'राग'। प्रत्येक प्रवृत्तिके अन्तमें निवृत्तिका आना स्वाभाविक है; क्योंकि प्रवृत्तिसे शक्तिक्षय और निवृत्ति-द्वारा शक्तिका पुनः संचय होता है। जिन प्रवृत्तियोंके द्वारा हम वस्तु, व्यक्ति आदिसे सुख-सम्पादनकी आशा करते हैं, वे सभी हमारे देहाभिमानको पुष्ट करती हैं और हमें लोभ-मोह आदि दोषोंमें आबद्ध करती हैं। ऐसी प्रवृत्तियोंके द्वारा दोषोंकी ही वृद्धि होती है। परंतु जिन प्रवृत्तियोंमें दूसरोंका हित तथा प्रसन्नता निहित है, ऐसी प्रवृत्तियाँ मङ्गलकारी होती हैं; क्योंकि वे सहज निवृत्तिको जन्म देती हैं।

सर्वहितकारी प्रवृत्ति और सहज निवृत्ति साधनरूप हैं, साध्य नहीं। अतः हमें अपनेमेंसे 'मैं सर्वहितैषी हूँ, मैं अचाह हूँ, मुझे अपने लिये संसारसे कुछ नहीं चाहिये'—यह अहंभाव भी गला देना चाहिये। यह तभी सम्भव है जब सर्वहितकारी प्रवृत्ति होनेपर भी अपनेमें करनेका अभिमान न हो और चाह-रहित होनेपर भी 'मैं चाह-रहित हूँ' ऐसा भास न हो। अहंभावके रहते हुए वास्तवमें कोई चाह-रहित हो नहीं सकता; क्योंकि सेवा तथा त्यागका अभिमान भी किसी रागसे कम नहीं है। सूक्ष्म राग कालान्तरमें घोर रागमें आबद्ध कर देता है। रागका अत्यन्त अभाव तभी हो सकता है, जब दोषोंकी उत्पत्ति न हो और गुणका अभिमान न हो; क्योंकि अभिमानके रहते हुए अनन्तसे अभिन्नता सम्भव नहीं है और उसके बिना कोई भी वीतराग हो ही नहीं सकता। सर्व-हितकारी प्रवृत्ति ही वास्तविक निवृत्तिकी जननी है। अपने ही समान सभीके प्रति प्रियताका उदय हो जानेपर ही सर्वहितकारी प्रवृत्तिकी सिद्धि होती है। सर्वहितकारी प्रवृत्ति वास्तवमें किये हुए संग्रहका प्रायश्चित्त है, कोई विशेष महत्त्वकी बात नहीं है और निवृत्ति प्राकृतिक विधान है। उसे अपनी महिमा मान लेना मिथ्या अभिमानको जन्म देना है, और कुछ नहीं। अतः प्रवृत्ति और निवृत्तिको ही जीवन मत मान लो। प्रवृत्ति-निवृत्ति-रूप साधनसे वास्तविक जीवनकी प्राप्ति हो सकती है। साधकका समस्त जीवन तबतक साधन नहीं बन सकता जबतक वह करने और पानेकी रुचिमें आबद्ध रहता है।

करने और पानेकी रुचि तबतक रहती है, जबतक हम उस अनन्तसे मिली हुई योग्यता, सामर्थ्य तथा वस्तुओंको अपना मानते हैं। समस्त सृष्टि एक है। उसका प्रकाशक, उसका ज्ञाता और उसका आधार भी एक है। जिसे हम अपना मानते हैं, वह उस सृष्टिका ही एक अंश है; अतः हम उसीकी वस्तु हैं जिसकी यह सृष्टि है। व्यक्तित्वका अभिमान गलानेके लिये ही सर्वहितकारी प्रवृत्ति तथा निवृत्तिकी अपेक्षा है। सर्वहितकारी प्रवृत्ति हमें ऋणसे मुक्तकर सुन्दर समाजका निर्माण करती है और निवृत्ति हमें स्वाधीनता प्रदान कर अनन्तसे अभिन्न करती है।

सर्व प्रकारके संघर्षका अन्त सर्वहितकारी प्रवृत्तिमें निहित है; क्योंकि सर्वहितकारी प्रवृत्ति स्नेहकी एकता प्रदान करती है। प्रवृत्ति स्वरूपसे छोटी हो या बड़ी; परंतु उसके मूलमें यदि सर्वहितकारी भाव है तो वह विभु हो जाती है। वह विश्वशान्तिकी स्थापनामें समर्थ है; क्योंकि स्नेहकी एकता वह काम नहीं करने देती जो नहीं करना चाहिये; और वह स्वतः होने लगता है जो करना चाहिये। उसके होते ही जीवनमें व्यापकता आ जाती है, जिसके आते ही सब प्रकारकी आसक्तियों-का अन्त हो जाता है। आसक्तियोंका अन्त होते ही उस दिव्य चिन्मय प्रीतिका उदय होता है, जो अपनेमें ही अपने प्रीतमको मिलाकर नित नव-रस प्रदान करती है, यही हमारी वास्तविक आवश्यकता है।

'स्वामिन सियाजू हमारी'

(लेखक—श्रीमहेशजी भटनागर, एम० ए०)

अरुणचूड़का स्वर सुनकर लक्ष्मण उठे। संध्या-वन्दनसे निवृत्त हो राघवेन्द्रके पद-प्रक्षालनके लिये जलकी झारी लेकर कनकभवनकी ओर चल दिये। हृदय अप्रत्याशित आनन्दमें दोलायमान हो रहा था। नयनोंमें राजीवलोचन प्रभुके सहित जनकनन्दिनी वैदेहीकी भव्य झाँकी घूम रही थी। कल्पना अबाधगतिसे बह चली—मैं कितना भाग्यशाली हूँ, प्रभुके साथ माँके पद-प्रक्षालनका अवसर प्रथम बार मिलेगा। जन्म-जन्मान्तरकी साध पूरी हो जायगी; तभी प्रेम-विभोर हो लक्ष्मण झूमते हुए गुनगुनाने लगे—

जनक सुता जग जननि जानकी। अतिसय प्रिय करुना निधान की॥
ताके जुग पद कमल मनावउँ। जासु कृपा निरमल मति पावउँ॥

कल्पनाने मोड़ लिया। माँ बड़ी संकोची हैं। लज्जा-शीला हैं। यदि चरणस्पर्श न करने दिये तो मैं बलात् चरणोंमें मस्तक धरके प्रार्थना करूँगा—'मैं तुम्हारा बालक हूँ माँ! अनुचर हूँ स्वामिनी! मेरी चिरसँजोयी इच्छाको अब और अतृप्त न रहने दो करुणामयी! निराश्रित याचकको द्वारसे विमुख न लौटाओ अन्नपूर्णा!' लक्ष्मणकी पुतलियाँ जलावरण हो गयीं।

कल्पना आगे बढ़ी। मुस्कराती हुई मैथिली, सस्मित-वदन प्रभुकी ओर देखेंगी, जैसे निर्देश माँग रही हों और मैं प्रभुसे मन-ही-मन निवेदन करूँगा—

पुनि मन बचन कर्म रघुनायक। चरन कमल बंदउँ सब लायक॥
राजिव नयन धरे धनु सायक। भगत बिपति भंजन सुख दायक॥

और तब प्रभु·········। आह्लादसे भरे लक्ष्मणके पद रुक गये। शयन-कक्षके कपाट बंद देखकर वे स्तम्भित-से खड़े रह गये। वास्तविकताके धरातलपर सुखद कल्पना तिरोहित हो गयी। दासीने अभिवादन किया—'देव! सरकार अभी शयन कर रहे हैं।' मैथिली वधूरानीकी आज्ञा है—'जबतक कपाट न खुले, किसीको प्रवेश न करने दिया जाय।'

लक्ष्मण खिन्न हो उठे। मनने प्रश्न किया—यह कैसी आज्ञा! तुम्हारा यह कैसा आदेश है माँ! प्रवेश न करने दिया जाय—मुझे भी! प्रभुके अनन्य सेवकको! किंतु बाह्यरूपसे न पूछ सके। हठात् बोले—'मैं उद्यानमें प्रतीक्षा करूँगा। कपाट खुलनेकी सूचना देना।' दासीने पुनः अभिवादन किया। लक्ष्मण उद्यानमें एक ओर शिलापर बैठ गये।

अयोध्याका प्रत्येक गृह माङ्गलिक गीतोंसे निनादित हो रहा था। कनकभवनके सिंहद्वारपर गायक भैरवमें प्रभातीके स्वर भर रहे थे—'जागिए कृपानिधान पंछी बन बोले।' शहनाई वादक पञ्चम स्वरमें रागिनी उँडेलते थे और कलाविद् अन्य वाद्योंसे प्रवीणता दिखा रहे थे।

मुस्करा उठी प्राची! लक्ष्मण व्यथित हो गये। प्रतीक्षित नेत्र दूर कनकभवनतक जाते और निराशा लिये लौटते। वे बुदबुदाये—'अबतक प्रभु नहीं उठे! अस्वस्थ तो नहीं! हाय री विवशता! सेवक स्वामीके दर्शनसे वञ्चित! कैसी विडम्बना है! ऐसी अघटित घटना कभी नहीं घटी। फिर आज क्यों!' 'प्रभो! राघवेन्द्र!' कण्ठ अवरुद्ध हो गया। वे विह्वल होकर अपने प्रभुको पुकारने लगे—'प्रणतपाल! प्राण-धन! प्राणसर्वस्व! करुणावरुणालय! ऐसा कठोर दण्ड! कैसे सह सकेगा आपका लक्ष्मण!'

'कुमार!' दासीका स्वर सुनायी दिया। सौमित्र खिल उठे। हर्षावेगमें पूँछने लगे—'पट खुल गये सोमा? प्रभु जाग गये! स्वस्थ हैं न? मेरी प्रतीक्षामें होंगे! मेरे समयपर न आनेका कारण पूछते होंगे! विलम्बके लिये क्षमा माँगूँगा। प्रभु उदार हैं। बड़े दयालु हैं!' लक्ष्मण द्रुत-गतिसे चल दिये।

'ठहरो कुमार!' दासीने रोका। लक्ष्मण क्षुब्ध हो गये। उन्हें एक क्षणका विलम्ब असह्य था। 'सरकारकी अर्चना हो गयी।'

'हो गयी! किसने की!' स्वरमें विस्मय था।

'मैथिलीवधूने! विवाहके उपरान्त पत्नी अधिकारिणी होती है कुमार!'

मुस्कराती हुई दासी गयी; किंतु लक्ष्मणके हृदयमें दैन्यका ज्वार उठा गयी। दासीके शब्द कानोंमें गूँज रहे थे! सत्य कहती है सोमा, किंतु प्रभुके प्रति दासका कोई कर्तव्य नहीं? अनुजके नाते मेरा कोई अधिकार नहीं? कैसी लीला खेल

रहे हो लीलाधर ? बोलो, आपकी दयासे वञ्चित हो कहाँ जाऊँगा ? जहाजके पक्षीकी भाँति श्रीचरणोंके अतिरिक्त मेरे लिये ठौर कहाँ है अशरणशरण ! आँसू झर-झर बह उठे !

सहसा लक्ष्मणको लगा प्रभु खड़े मुस्कुरा रहे हैं। अपने अभयहस्तसे आश्वस्त कर रहे हैं। वे विस्मय-विमुग्ध हो नवजलधर-श्यामकी शान्तिमयी मुद्रा देखकर निहाल हो गये। 'प्रभु ! मेरे स्वामी ! मेरे सर्वस्व ! इतनी कृपा ! इतनी अनुकम्पा !! इस अकिञ्चनके लिये इतना कष्ट ! सेवकके व्रतका इतना ध्यान ! ऐसी भक्तवत्सलता ! अपनी पद-अर्चना कराने स्वयं आ गये मेरे महाप्रभु !' कहते हुए लक्ष्मणने ज्यों ही प्रभु-चरणोंपर मस्तक रक्खा, मूर्ति तिरोहित हो गयी ! लक्ष्मणने व्यग्रतासे अश्रुपूरित नेत्र खोले, दासीको खड़े देखा !

'कुमार ! छोटी रानी भोजन ········ ।'

'नहीं।' भर्राये स्वरमें लक्ष्मणने कहा। दासी लौट गयी।

लक्ष्मणके धैर्यका बाँध टूट गया। अश्रु प्रवाहित होने लगे—'मुझे अर्चना तो करने देते मेरे नाथ ! क्षणमें झलक दिखाकर चले गये और अभागा चरण-रज भी न ले सका। किस अपराधकी भीषण यातना दे रहे हो मेरे प्रभु ! आपके बिना मेरी गति नहीं है मेरे अवलम्ब ! कोई गति नहीं है।'

'देव !' वीणाविनिन्दित स्वर मुखरित हुआ। लक्ष्मणने चौंककर बहते हुए अश्रु पोंछे। नत-मस्तक उर्मिला सम्मुख थी !

'उर्मि !' स्वरमें वेदना थी।

'प्रसाद ग्रहण ········ !'

'नहीं।' बीचमें ही लक्ष्मण बोले, 'मैं न कर सकूँगा, किंतु मेरा आग्रह है, तुम मेरे नाते भोजन कर लो।'

'क्षमा करें आर्य ! अपने प्रभुके प्रसाद ग्रहण करनेपर ही।' अश्रु ढलक पड़े। वह लौट गयी व्यथाका भार लिये !

× × ×

प्रसन्न-वदना महारानी कौसल्याको चिन्तित मुद्रामें अपने प्रकोष्ठमें शीघ्रतासे आते देख सुमित्राजी सिहर गयीं।

'क्या हुआ जीजी ? कुशल तो है ? उदास क्यों हो ?' पद-वन्दन करते हुए सुमित्राने पूछा। 'कुशल ही तो नहीं है सुमित्रा ! आज वह हो रहा है जो रघुकुलके इतिहासमें कभी नहीं हुआ ! लक्ष्मण अनशन कर रहा है !'

'हाँ।'

'उर्मिला भी ?'

'हाँ।'

'कारण ?'

'मैं नहीं जानती जीजी ?'

'सोचती हूँ, राघव मौन क्यों है ? वह तो अवगत होगा ?'

'मेरा राम तो सर्वज्ञ है जीजी।' हँसते हुए सुमित्राने उत्तर दिया।

'तुम्हें विनोद सूझ रहा है सुमित्रा ! तुम स्थितिकी गम्भीरता नहीं समझ रही हो !'

'स्थितिकी गम्भीरता कैसी ? यह तो मेरे विनोदी रामका कौतुक है।' स्वरमें विश्वास था।

'कौतुक कहती हो छोटी रानी ! मुझे भय है, कहीं कोई अनिष्ट न हो जाय। सबसे अधिक चिन्ता मुझे अपनी सुकुमारी उर्मिलाकी है। लक्ष्मणको नहीं समझाया ?' 'कैसे समझाऊँ जीजी ? उसे रोता हुआ पाती हूँ। उसका अस्फुट स्वर सुनती हूँ। उसे प्रेमविभोर देखती हूँ तो मैं स्वयं गद्‌गद हो जाती हूँ। अपने भाग्यकी सराहना करती हूँ।'

'क्यों ?'

'पुत्रवती जुबती जग सोई। रघुपति भगत जासु सुत होई॥'

कहते-कहते सुमित्रा भावविभोर हो गयीं। उधर कौसल्या अतीत स्मृतियोंमें खो गयीं।

'क्या सोचने लगी जीजी ?' स्वरमें स्निग्धता थी।

'मेरे नयनोंमें रामका शैशव घूम रहा है सुमित्रा ! कैसा अगाध प्रेम था राघवका लक्ष्मणमें। दोनों पालनेमें पृथक् नहीं सो सकते थे।'

'हाँ जीजी। मैं आनन्द लेनेके लिये लक्ष्मणको पृथक् पालनेमें लिटा देती थी। दोनों रोते, बिलखने लगते। लक्ष्मण तो रो-रोकर आकाश सिरपर उठा लेता था।'

'मैं फिर लक्ष्मणको उठाकर रामके साथ पौढ़ा देती थी। राम शान्त हो जाता और लक्ष्मण ······।' बीचहीमें सुमित्रा बोल उठी—'राघवके चरणका अँगूठा अपने मुखमें न रखता, चुप न होता। इतना हर्षित होता, जैसे अनुपम निधि मिल गयी हो।'

'मैं राघवसे पूछूँगी।'

'क्या करोगी जीजी ! सब व्यवस्थित हो जायगा ।'

घबरायी हुई दासीने सूचना दी—'महारानीजी ! छोटी बहूरानी मूर्च्छित हो गयी ।'

'कौन ? उर्मिला ?' भयसे त्रस्त महारानी कौसल्याने पूछा।

'हाँ महारानीजी !'

'मैं पहले ही कह रही थी सुमित्रा ! कहीं अनर्थ न हो जाय ।'

दोनों उर्मिलाके कक्षकी ओर द्रुत वेगसे बढ़ीं ।

× × ×

'कुमार !' ध्यानावस्थित लक्ष्मणके समक्ष खड़ी हुई दासी पुकार रही थी ।

'सरकारने स्मरण किया है ।' लक्ष्मणने नेत्र खोले। 'कहाँ हैं प्रभु ?'

'प्रमोद-वनमें ।'

'आता हूँ ।' दासी गयी ।

'प्रभुने स्मरण किया है' सुनकर लक्ष्मणका मन-मयूर नाच उठा; किंतु आत्मा, ग्लानिसे फुत्कारने लगी । 'प्रभु मुझे भुला चुके हैं ।'—'ऐसी दुर्भावना मेरे मनमें क्यों उठी ! तनिक-से विक्षेपपर प्रभुकी अहैतुकी कृपापर अविश्वास कर बैठा ! कितना पतित हूँ ! कितना कृतघ्न हूँ !! प्रभुकी अगाध भक्तवत्सलतापर संदेहकी सृष्टि कर डाली ! मैं अधम हूँ, नारकी हूँ । जैसा भी हूँ, तुम्हारा हूँ मेरे आराध्य ! और तुम मेरे हो । प्रभु अपने लक्ष्मणको कभी नहीं विस्मृत कर सकते ।' छलछला गये लक्ष्मणके नेत्र राघवेन्द्रकी निष्कारण कृपालुताका स्मरण करके । यह विश्वास मेरे हृदयमें दृढ़ हो जाय मेरे नाथ ! 'मैं सेवक हूँ और रघुपति राम मेरे स्वामी ।'

भावनाओंको समेटे लक्ष्मणने भगवती सीतासहित प्रभुके चरणोंमें अभिवादन किया । 'पधारो न्यायाधीश !' स्वागत करते हुए वैदेही मुस्करायीं ।

'यह सम्बोधन कैसा आर्या ?'

'मैथिलीने विवादका निर्णायक तुम्हें मनोनीत किया है लक्ष्मण !'

'तुम-जैसा निष्पक्ष वक्ता कहाँ मिल सकता है कुमार ! इस वृक्षपर लिपटी लताको देखते हो ?'

'हाँ देवि !'

'मैं इस लताको भाग्यशालिनी मानती हूँ । यदि यह वृक्ष लताको आश्रय न देता, अपनी पीन भुजाओंसे आवेष्टित न करता, तो इसकी क्या दशा होती ? इस निराधारका अस्तित्व ही न होता । यदि होता, तो पशुओंकी आहार बन जाती । उनके पाँवोंसे रुँद जाती, नष्ट हो जाती । यह वृक्षकी महती अनुकम्पा है, जिसने सहारा देकर लताके जीवनको सुरक्षित बनाया । ऊँचा स्थान देकर गौरवान्वित किया । पल्लवित-पुष्पित कर जीवनको सार्थकता दी । वास्तवमें वृक्षको पाकर लता धन्य हो गयी ।'

लक्ष्मणने प्रभुकी ओर देखा । 'लक्ष्मण !' शान्त स्वरमें राघवेन्द्र बोले । 'न्यायाधीश 'कहिये देव !' मैथिलीने विहँसते हुए कहा । 'मैं वृक्षको भाग्यशाली समझता हूँ । लता कोमल करोंसे वृक्षको आलिङ्गनबद्ध न करती, आत्मसात् कर इसके छिद्र एवं दोषोंको आच्छादित न करती, डालियाँ एवं तनेको अपने शरीरसे पुष्ट न करती तो क्या वृक्षका जीवन सफल होता ? वृक्षको हरितिमा देनेवाली लता है । कोमलाङ्गी होते हुए ग्रीष्मके प्रचण्ड तापको, शरीरको विजड़ित करनेवाले शीतको और वर्षाके तीव्र आघातोंको स्वयं झेलकर वृक्षको पनपनेका अवसर देनेवाली लता है । वृक्षकी शुष्कतामें सरसता, कुरूपतामें मधुरिमा और कठोरतामें कोमलताका संचार करनेवाली लता है । सत्य यह है, वृक्षको गौरव प्रदान करनेका श्रेय लताको है ।'

लक्ष्मण समझ गये कि प्रभु और जनकनन्दिनी वृक्ष एवं लताके माध्यमसे, अपने पक्षका प्रतिपादन कर एक-दूसरेका गौरव व्यक्त कर रहे हैं ! लक्ष्मण कुछ क्षण शान्त रहे । फिर गम्भीर मुद्रामें बोले—'दोनों ।'

'निष्पक्ष निर्णय दो लक्ष्मण !' राघवने सस्मित विदेह-नन्दिनीकी ओर देखते हुए कहा ।

'कह दूँ प्रभु ! भाग्यशाली न वृक्ष है और न लता है । भाग्यशाली वह पथिक है, जो दोनोंके आश्रयमें छाया तथा फल-फूलका उपभोग कर रहा है ।' लक्ष्मणका कण्ठ अवरुद्ध हो गया । अश्रु बहने लगे ।

'लक्ष्मण !' करुणार्द्र राघवने कहा ।

'वह अभागा पथिक मैं हूँ प्रभु ! जो दोनोंके सुखद आश्रयसे वञ्चित होकर जीवनका भार ढो रहा है ।' लक्ष्मण लौट पड़े । । मैथिलीसहित राघव विस्मयसे लक्ष्मणको जाते हुए देखते रहे ।

× × ×

उषाकी लालिमासे दिशाएँ अनुरञ्जित थीं। सिंहद्वारपर नफीरी ध्वनित हो रही थी। वाद्योंका समवेत-स्वर वायु-मण्डलमें स्निग्धता विखेर रहा था। लक्ष्मणको झारी लिये लौटता देख दासीने आगे बढ़कर अभिवादन किया। 'ठहरो कुमार! मैथिली वधूरानी बुला रही हैं।'

लक्ष्मण चल दिये। कपाट खुले थे। जानकीसहित राघवेन्द्रको देखकर वे प्रफुल्लित हो गये। 'आओ लक्ष्मण!' राघवने कर-कमल बढ़ाते हुए कहा। लक्ष्मण मैथिलीके चरणोंमें प्रणाम करके, प्रभुके पदाम्बुजोंसे लिपट गये। प्रभुने दोनों भुजाओंसे लक्ष्मणको उठाकर समीपमें स्थान दिया।

'मैं लज्जित हूँ कुमार!' वैदेहीने रुँधे कण्ठसे कहा। 'मुझे विदित नहीं था कि मेरा पत्नीत्व भाईके निरकर्तव्यसे वञ्चित कर अनर्थका सृजन कर रहा है। अधिकारकी लालसाने मेरा विवेक अपहृत कर लिया था सौमित्र!'

'मैं समझा नहीं देवि!'

'पद-अर्चनासे तुम्हें विरत करके मैथिली संतप्त हैं लक्ष्मण!'

'यह आर्याकी महती उदारता है प्रभु! इस अकिंचनको इतना महत्त्व देनेवाली, अपने जनकी सुख-सुविधा और मान-मर्यादाका ध्यान रखनेवाली, क्लेश हरनेवाली, कल्याण करनेवाली, आर्तकी गुहार प्रभुतक पहुँचानेवाली, करुणामयी विदेहनन्दिनीकी अपेक्षा और कोई नहीं है।' लक्ष्मण गद्गद हो गये। अपनी प्रशंसा सुनकर विदेहजा संकुचित हो रही थीं। तभी राघवने गम्भीर स्वरमें कहा—'मैंने निर्णय किया है मैथिली! पत्नी वामाङ्गकी स्वामिनी होती है, तुम मेरे वाम-चरणका और लक्ष्मण! भाई दक्षिण भुजा होता है, तुम मेरे दक्षिण पदकी अर्चना करोगे। तुम दोनोंको स्वीकार है?'

'प्रभुकी आज्ञा शिरोधार्य है!' लक्ष्मणने प्रमुदित स्वरमें कहा। समर्थनमें मैथिलीने सिर हिला दिया।

दासीके सहित उर्मिलाको कक्षमें प्रविष्ट होते देख लक्ष्मण विस्मित हो गये! उर्मिलाने राघव तथा मैथिलीको प्रणाम किया। छोटी बहनको हृदयसे लगाते हुए मैथिली बोली—'मेरी अपने देवर और देवरानीको स्वयं अपने करोंसे भोजन करानेकी इच्छा थी। वह शुभ दिन आज आ गया आर्यपुत्र! उर्मिलाको लेकर मैं भोजनकक्षकी ओर जा रही हूँ। आप कुमारको लेकर आइये।' 'जो आज्ञा अन्नपूर्णा!' हँस पड़े प्रभु। वातावरण हास्यसे मुखरित हो गया! मुस्कराती हुई वैदेही उर्मिलाको लेकर चली गयीं।

'उठो लक्ष्मण!' करकमल लक्ष्मणके मस्तकपर फेरते हुए राघवने वात्सल्यभरे स्वरमें कहा। 'आज तुम दोनोंके अनशनव्रतका पारायण है।' लक्ष्मण संकुचित-से प्रभुके पीछे चल दिये।

× × ×

हर्ष बढ़ाता, प्रसन्नता विखेरता होलीका पर्व आया। अयोध्या उल्लासमें झूम उठी। झाँझ, मृदंग, डफ तथा बाँसुरीका स्वर चारों ओर ध्वनित होने लगा। अबीर, गुलालकी झोलियाँ भरे युवकोंका समूह राजपथपर बढ़ रहा था। गुलालसे अम्बर-दिशाएँ रञ्जित हो गयीं। राजमहलकी शोभा अवर्णनीय थी। राघवेन्द्र अपने सखाओं तथा भ्राताओंके साथ होली खेलनेकी साज-सज्जासे निकले। दूसरी ओरसे श्रीकिशोरीजी सखियों तथा दासियोंके साथ पुष्प, कुंकुम तथा गुलालसे भरे थाल लिये अग्रसर हुईं।

गायक झूम-झूमकर गाने लगे—'खेलत बसंत राजाधिराज।' नर्तकोंके पाँव थिरकने लगे। ढपकी तालपर होली प्रारम्भ हुई। एक-दूसरेको गुलालसे रञ्जितकर सभी हर्षोन्मत्त हो रहे थे। अपनी विजयपर उल्लसित पुरुष-समूह बीच-बीचमें 'राघवेन्द्र सरकार श्रीरामकी जय'का घोष करता तो प्रत्युत्तरमें महिलामण्डली 'जनकनन्दिनी महारानी किशोरीजीकी जय' से वायु-मण्डलको गुँजा देती। एक वर्ग दूसरे वर्गको परास्त करनेमें तन-प्राणसे प्रयत्नशील था। नारियाँ पुरुषोंको पराभूत करनेके लिये अपने मोहक उपकरणोंका प्रयोग कर रही थीं।

सहसा वाद्योंका स्वर रुक गया। खेलते-खेलते सब चौंक उठे। कर-कमल गुलाल फेंकना भूल गये। कोलाहल हुआ 'कुमार गिर पड़े। छोटे कुमार मूर्च्छित हो गये।' धरापर गिरे हुए लक्ष्मणकी ओर सबका ध्यान आकृष्ट हो गया। मैथिलीने त्वरित दौड़कर लक्ष्मणके मुखपर शीतल गुलाबजलके छींटे दिये। लक्ष्मण प्रकृतिस्थ हुए। रघुनाथको आते देखकर वैदेहीने कहा—'देव! चिन्ता न करें। कुमार स्वस्थ हैं।' राघव लौट गये।

'कुमार! कैसा स्वास्थ्य है?'

'स्वस्थ हूँ आर्ये!' लक्ष्मणने नयन बंद कर लिये। दो बूँदें ढुलक पड़ीं उनके कपोलोंपर। 'रो रहे हो कुमार! इस सुखद अवसरपर?'

'हर्षके अश्रु हैं महादेवि!' मृदु मुस्कानकी रेखा उनके अधरोंपर खिंच गयी।

'मिथिलामें भाभी फागके अवसरपर देवरकी इच्छा पूर्ण करती हैं। बोलो कुमार! तुम्हारी क्या अभिलाषा है?'

'पूर्ति करेंगी ?'

'यथासाध्य प्रयत्न करूँगी।'

'प्रभुके दाहिने पदकी अर्चनाका दायित्व लेकर, वाम-चरणकी सेवा मुझे प्रदान कर अनुगृहीत करें।'

जानकी विचारोंमें डूब गयीं। उन्होंने सोचा भी न था कि लक्ष्मण वरदान माँगकर प्रभु-सेवासे वञ्चित कर देंगे। किंतु एक क्षणमें मुस्कराकर वह बोल उठीं—'तथास्तु।'

'कृतज्ञ हुआ दयामयी!' मनोवेदना समाप्त हुई कल्याणी! वैदेहीके चरणोंका स्पर्श करके लक्ष्मण हर्षभरे फिर मुक्त हाथोंसे होली खेलने लगे।

× × ×

प्रातः राघवेन्द्रके शयनकक्षमें लक्ष्मण और वैदेही प्रभुके पदपद्मोंकी अर्चनाके लिये प्रस्तुत हुए। जनक-नन्दिनीने उल्लसित स्वरमें निवेदन किया।

'कुमारने मुझे युगलचरणोंकी अर्चनाका अधिकार दे दिया है आर्यपुत्र!'

'क्यों लक्ष्मण!' उत्सुकतासे लक्ष्मणकी ओर देखते हुए प्रभु बोले—'अपना स्वत्व कैसे त्याग दिया?'

'त्यागा नहीं प्रभु! आर्याके भागसे विनिमय किया है। वरदायिनीने अपनी स्वीकृतिकी छाप अङ्कित कर दी है। दाहिने पदमें मेरी अर्चना आप ही तक सीमित थी किंतु वाम-चरणमें प्रिया-प्रियतमके रूपमें स्वामी-स्वामिनीके युगल-विग्रहकी अर्चनाका सौभाग्य मिलेगा। दासका जीवन धन्य हो जायगा मेरे नाथ! करुणामयीका वरद-हस्त मेरे मस्तकपर है। फिर मुझे कोई चिन्ता नहीं।' लक्ष्मण किशोरीजीके चरणोंमें लोटकर गाने लगे—'स्वामिन सियाजू हमारी, फिकिर मोहि काहे की?'

'मैथिली!' राघव हँस पड़े। 'देखा मैथिली! लक्ष्मण बाजी ले गये।'

'बड़े कौतुकी हो कुमार! अभिनय-कलामें पूर्ण दक्ष हो।'

लक्ष्मणके मुखपर मुस्कान बिखर गयी। झारीसे प्रभुके पदारविन्दकी अर्चना करते हुए वे गुनगुनाने लगे, जैसे वर माँग रहे हों—

'सीता राम चरन रति मोरे। अनुदिन बढ़हिं अनुग्रह तोरे॥'

और बाहर नागरिकोंका स्वर गूँज रहा था—

'राजा राम जानकी रानी। आनँद अवध अवध रजधानी॥'

कर्तव्यरूप सेवाका आदर्श

(लेखक—श्रीरामेश्वरजी टाँटिया)

आजसे पचास-साठ वर्ष पहले राजस्थानमें बड़े शहरोंके सिवा अन्यत्र कहीं भी डाक्टर नहीं रहते थे। अगर कोई धनी व्यक्ति ज्यादा बीमार हो जाता तो इलाजके लिये जोधपुर या बीकानेरसे डाक्टरको बुलाया जाता था। हमारे कस्बेमें एक बार एक सेठके इलाजके लिये कलकत्तासे एक बंगाली डाक्टर आये थे, जिनको देखनेके लिये स्थानीय लोगोंके सिवा बहुत-से ग्रामीण भी आये थे; क्योंकि एक सौ रुपया प्रतिदिनकी फीस उस समय एक अद्भुत और अनोखी बात थी।

बीमारियाँ तो उस समय भी होती थीं; परंतु इलाजका प्रचलन नहींके बराबर था। सर्दी, जुकाम, सिरदर्द और यहाँतक कि मलेरिया और मियादी बुखारतकमें काली मिर्च और लौंगकी चासनी या दशमूलका काढ़ा आदि दे दिया जाता। अधिकांश रोग इन्हीं देशी जड़ी-बूटियोंसे ही दूर हो जाते।

वैद्योंके अलावा हर मोहल्लेमें एक-दो सयानी स्त्रियाँ रहतीं, जिनकी कोथली-थैलीमें बच्चा और जच्चा—दोनोंके लिये दवाएँ रहतीं। बीमारके घरवालोंको इन्हें बुलानेकी आवश्यकता नहीं पड़ती। खबर पाकर वे स्वयं ही पहुँच जातीं और रोगीकी सेवामें लग जातीं। किसी प्रकारकी फीस या औषधके मूल्यका तो कोई प्रश्न ही नहीं था। बल्कि ऐसे मौकोंपर पुराने वैर-बदले भी समाप्त हो जाते।

थोड़े वर्षों बाद शायद सन् १९३० के लगभग एकाध डाक्टर भी आ गये थे, जिनके गलेमें या कोटके ऊपरकी जेबमें रबरका स्टेथिस्कोप पड़ा रहता था। फीस एक या अधिकतम दो रुपया होती, किंतु उस समय लोगोंको यह भी अखरती थी। इसलिये अधिकांश रोगी झाड़-फूँक या स्थानीय वैद्यजीका सहारा ही लेते।

वैद्यका बेटा अपने-आप वैद्य हो जाता। आयुर्वेदकी डिग्रियाँ तो नहीं थीं, परंतु बड़ोंद्वारा प्राप्त नाड़ी और ओषधि-ज्ञान उन्हें यथेष्ट रहता। आजकलकी तरह थूक, खून और मल-मूत्रकी परीक्षाके साधन न होनेपर भी नाड़ी-ज्ञानद्वारा ये लोग रोगका सही निदान कर देते। कुछ-एक पुश्तैनी वैद्योंके पास विश्वसनीय और कीमती आयुर्वेदिक दवाएँ अच्छी मात्रामें पायी जातीं, जिनका असर अचूक होता।

शायद सन् १९३६ की बात है, हमारे कस्बे और आस-पासके गाँवोंमें बड़े जोरका हैजा फैला। प्रतिदिन २०-३० आदमी मरने लगे। लोगोंमें घबराहट फैल गयी। जिनके पास साधन थे, वे दूरके गाँवों-कस्बोंमें अपने सगे-सम्बन्धियोंके यहाँ चले गये। यहाँतक कि 'डाक्टर' और वैद्य भी गाँव छोड़कर चले गये; क्योंकि जिनसे फीस मिलनेकी आशा थी, वे तो पहलेसे ही जा चुके थे। बच गये थे गरीब लोग, जिनके पास फीस तो क्या दवाके दाम भी नहीं थे। इतना ही नहीं, रोगका प्रकोप ज्यादा बढ़ा तो घरवाले भी रोगियोंको छोड़कर भागने लगे।

घर-घरमें रोगी पड़े थे और डाक्टर-वैद्योंमें केवल एक ही रह गये थे—कविराज बृजमोहन गोस्वामी। यद्यपि परिवारवालोंने और मित्रोंने उनसे बहुत आग्रह किया कि वे भी कस्बा छोड़ दें—आखिर अकेले कर ही कितना पायँगे। साथ ही जान भी जोखिममें रहेगी। उनका जवाब था कि 'मेरे पितामह और पिता माने हुए वैद्यराज थे। उन्होंने कभी संकटके समय रोगीको नहीं छोड़ा। यहाँतक कि गरीबोंको दवाके सिवा कभी-कभी पथ्यकी भी व्यवस्था उन्होंने अपने पाससे की। इस समय अगर मैं भी भागकर चला जाऊँगा तो इन असहायोंका क्या होगा? मृत्यु तो अवश्यम्भावी है, एक दिन होगी ही, फिर कर्तव्यविमुख होकर अपकीर्तिकी मृत्यु क्यों हो?'

हैजेका सबसे ज्यादा प्रकोप था चमारों और भंगियोंके मुहल्लोंमें। वीरान गाँव, भयावह गलियाँ, सूने घर और मुर्दोंकी सड़ाँध—पूरा गाँव श्मशान-सा नजर आता था। गोस्वामीजी सुबह ६ बजे उठते, दोपहर १२ बजेतक बीमारोंको देखते रहते। फिर भोजन करके विना सुस्ताये रातके १० बजेतक वही कार्यक्रम चालू रहता। उस समयतक हैजेके इंजेक्शन और एलोपैथिक दवाएँ ईजाद हो चुकी थीं, पर वहाँपर न तो इंजेक्शन देनेवाले डाक्टर या कम्पाउण्डर थे और न दवाफरोश ही। वैद्यजीका तीन-चार हिम्मतवाले युवकोंने साथ दिया। मनों प्याजका रस निकालकर मटके भर लिये और ऊँटोंका मूत्र भी बड़ी मात्रामें इकट्ठा कर लिया। रोगियोंको भगवान्का नाम लेकर वे दोनों ओषधि पिलाने लगे और इनसे ही चमत्कारिक लाभ होने लगा।

उस समय राजस्थानमें छूआ-छूत बहुत थी। गोस्वामीजी परम वैष्णव थे; परंतु उस समय उन्हें तो इन भंगी-चमारोंमें वास्तविक हरिके दर्शन होने लगे। बहुत बार तो उनके मल-मूत्रभरे कपड़े धोने पड़ते और जगहकी सफाई भी करनी पड़ती। बीमार माताके छोटे बच्चोंको लोरी देकर सुलाना पड़ता। मनुष्य जान और मालका मोह छोड़ भी दे तो भी नाम और यशकी कामना तो रहती ही है और इसीके चलते ऐतिहासिक बलिदान हुए हैं। परंतु उस बीमार इलाकेमें न तो समाचारपत्रोंके संवाददाता थे, जो वैद्यजीके सेवाकार्यको प्रचार-प्रसार देते और न वैद्यजी ही अपना नाम और कामका ढिंढोरा पीटना चाहते थे। उन्होंने तो अपना कर्तव्य समझकर ही मृत्युका आलिंगन करना स्वीकार किया था।

उनका शरीर भारी था, वृद्धावस्था हो चली थी। रातको थककर चूर हो जाते, परंतु जैसे ही थोड़ा-सा खा-पीकर सोनेको जाते कि रोती हुई कोई महिला आती और अपने बच्चेकी उल्टी-दस्तकी बात कहकर गिड़गिड़ाने लगती। वैद्य बृजमोहनजीका मनुष्यत्व जाग उठता और वे प्रभुका नाम लेकर उसी समय चल देते। सारी रात बाहर ही बीत जाती। इस प्रकार कई बार हुआ। एक कहावत है कि—

जाको राखे साइयाँ मारि सकै नहिं कोय।

महामारी समाप्त हो गयी। लोग वापस आने लगे। उन्होंने देखा कि गोस्वामीजी सही-सलामत हैं। हाँ, शरीरसे काफी थक गये हैं। एक प्रकारसे टूट-से गये हैं।

आसपासके कस्बोंके लोग उन्हें देखने आने लगे। उनके सार्वजनिक अभिनन्दनका प्रस्ताव रक्खा गया परंतु उन्होंने नम्रतापूर्वक इसकी मनाही कर दी। उनका कहना था कि 'मैंने अपना कर्तव्यपालन किया है। यही तो भारतीय परम्परा रही है और यही भगवान् धन्वन्तरिकी आज्ञा है। बचानेवाला तो ईश्वर है, मैं तो केवल निमित्तमात्र था।' कुछ दिनों बाद ही गोस्वामीजी बीमार पड़े। सैकड़ों व्यक्ति रोज उनके दर्शनोंको आते। लेकिन आयु समाप्त हो चुकी थी। वैद्यजीका देहान्त हो गया। सारे गाँवमें, विशेषकर हरिजनों और गरीबोंकी बस्तीमें शोक छा गया। उनके दाहकर्ममें इतने स्त्री और पुरुष गये, जितने आजतक किसी भी व्यक्तिके नहीं गये थे।

अभी कुछ दिनों पहले बंगलाके प्रसिद्ध साहित्यकार श्रीताराशंकर बंद्योपाध्यायका 'आरोग्यनिकेतन' मैंने पढ़ा था। मुझे श्रीयुत जीवन कविराजमें वैद्य बृजमोहन गोस्वामीके दर्शन हुए और मैंने मन-ही-मन उस स्वर्गीय आत्माको प्रणाम किया।

परमार्थकी पगडंडियाँ

अनन्य भगवन्निष्ठा चिन्ता, भय, विषयासक्ति, लोक-ममता, विषाद आदिका नाश करके सदा प्रसन्नता, निर्भयता, भगवत्प्रेम, भगवच्चरण-ममत्व एवं नित्य परमानन्द प्रदान करती है। संसारकी अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिका भगवन्निष्ठ व्यक्तिपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता—

'दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।'

वह निरन्तर भगवान्के प्रेमानन्दमें डूबा रहता है। उसका यह आनन्द दुःखका प्रतिद्वन्द्वी द्वन्द्वात्मक सुख नहीं है, वह केवल आनन्द है। जबसे इस पथपर मनुष्य आता है, तभीसे विलक्षण मौज प्राप्त होने लगती है और जब प्रियतम श्रीकृष्ण ही उसकी मौज बन जाते हैं, तब तो मौजके सिवा अन्य किसी विरोधी तत्त्वका खोजनेपर भी पता नहीं लगता। सारी आसक्ति, सारी ममता उन्हींके साथ जुड़ जानेपर एक विलक्षण मौज होती है। जिसको होती है, वही जानता है। भीषण-से-भीषण जागतिक दुःखकी स्थितिमें भी प्रियतम प्रभु मौजरूप बने हुए उसके हृदयसे लगे रहते हैं। लोग कुछ भी कहें—मानें, वह मौजसे कभी मुक्त नहीं हो सकता।

× × × × ×

हमारी आसक्ति-ममता होनी चाहिये—एकमात्र श्रीभगवान्में ही तथा भगवान्की दी हुई परिस्थितिका, प्राणी-पदार्थका, जिम्मेवारीका भगवत्-सेवार्थ पूरा सदुपयोग होना चाहिये। उनके लिये चिन्ता नहीं करनी चाहिये। उनके द्वारा भगवत्पूजा होनी चाहिये। भगवान्की सेवाके लिये मिली हुई किसी भी वस्तुकी अवहेलना न हो। जड पदार्थ भी श्रीभगवान्की ही सृष्टि हैं। भगवान्की सेवामें उनका उपयोग हो तो उनका भी बड़ा महत्त्व है। श्रीयशोदा मैया श्रीश्यामसुन्दरके सुखार्थ बड़ी आसक्तिसे घरकी चीजोंको सँभालती थीं। श्रीगोपाङ्गनाएँ तो अपने शरीर-शृङ्गारकी श्रीश्यामसुन्दरके सुखार्थ पूरी रक्षा करती थीं।

× × × × ×

समर्पण एक ही बार हुआ करता है। समर्पणके साथ ही ग्रहण भी हो जाता है। पूर्ण समर्पण हो जानेपर समर्पक अलग नहीं रह जाता, समर्पण करनेवाला स्वयं ही समर्पित हो जाता है। फिर उसके अंदर या उसके द्वारा जो कुछ होता है, वह सब उसका नहीं होता; जिसने ग्रहण किया है, उसीका होता है। समर्पण करनेवाला तो यह भी नहीं जानता कि 'मैंने कुछ किया भी है।' यह 'आत्मविस्मृति' ही प्रेमकी भूमिका होती है। गोपीभावका महान् मङ्गल-प्रारम्भ यहींसे होता है और इसीमें इसका पर्यवसान भी है।

× × × × ×

यह बिल्कुल सत्य है कि जहाँ हमारा मन है, वहीं हम हैं। हम मन्दिरमें रहकर भी शौचालयमें रह सकते हैं और शौचालयमें रहकर भी मन्दिरमें। यह तो जगत्की बात है, मनोवैज्ञानिक तत्त्व है। पर यदि भगवान्में, उनकी किसी लीलामें हमारा मन है, तब तो हम सचमुच ही वहीं भगवान्में, उनकी लीलामें हैं ही; क्योंकि सत्स्वरूप भगवान् सदा-सर्वत्र हमारे मनोनुकूल लीलारूपमें हैं ही।

× × × × ×

वस्तुतः यह प्रपञ्च है ही नहीं। सदा, सर्वत्र, सब रूपोंमें एकमात्र श्रीकृष्ण ही लीलायमान हैं; सृजन, संहार, प्रत्येक परिवर्तन—सब उनकी लीला है। सदा उन्हींको, लीलाके रूपमें भी उन्हीं लीलामयको देखना चाहिये। सर्वकाल, सर्वदेश, समस्त पदार्थ सब उन्हींमें हैं; उन्हींसे हैं; वे ही सबके बाहर-भीतर तथा सबके रूपमें हैं। यह प्रत्यक्ष है, यही परम सत्य है।

× × × × ×

सृजन और संहार—दोनोंमें ही भगवान्‌की मङ्गलमयी लीलाका अनुभव करना चाहिये। उनके मधुर मनोहर स्मित हास्यको देखते रहनेपर किसी भी अवस्थामें शोक-विषाद नहीं होता। बस, सारा जीवन भगवान् श्रीश्यामसुन्दरमें लग जाय, निरन्तर उनकी स्मृति होती रहे तथा उनके मधुर मनोहर सांनिध्यका अनुभव होता रहे।

श्रीश्यामसुन्दरका तथा उनकी लीलाका चिन्तन होता रहे। मनमें यह निश्चय सदा बना रहे—'मैं उनका ही हूँ, जगत्‌का नहीं।' शरीर तथा शरीरसे सम्बन्धित किसी भी प्राणी-पदार्थका आधिपत्य न रहे; श्रीश्यामसुन्दरका एकाधिपत्य हो जाय। नाम-रूप सब उन्हींके चरणोंपर समर्पित हो जायँ।

× × × × ×

लीला-चिन्तनके समय लीला-दर्शनमें तन्मय होनेका अभ्यास बनाना चाहिये। 'तन्मयता' का अर्थ है—चिन्तनकी प्रगाढ़ता। जैसे संसारमें कभी-कभी हमलोग किसी विषयका चिन्तन करते हैं, तब ऐसी प्रगाढ़ता आती है कि उस विषयकी स्पष्ट अनुभूति होने लगती है, इसी प्रकार लीला-चिन्तनमें होना चाहिये। अर्थात् जिस लीलाका हम चिन्तन करें, उसकी हमें स्पष्ट अनुभूति होने लग जाय—मानो वह लीला हमारे सम्मुख हो रही है।

× × × × ×

जिसे अपनेमें प्रेम 'दीखता' है, उसमें प्रेम 'होता' नहीं। प्रेम कभी भी यह नहीं कहता कि 'मैं हूँ'। वह तो चोरकी तरह छिपा रहता है और उत्तरोत्तर अपनेको बढ़ाया करता है। प्रेमके साथमें 'दैन्य' तो और भी विलक्षण गुण है। श्रीराधाका यही भाव परम श्रेष्ठ माना गया है, जो स्वयं प्रेमकी अगाध समुद्र होकर भी वे अपनेको अत्यन्त दीन-हीन, प्रेमशून्य मानती हैं।

× × × × ×

मनुष्य यदि अपने दोषोंको देख पाये और अपनेको असमर्थ समझकर सर्वसमर्थ अहैतुक प्रेमी भगवान्‌की कृपापर निर्भर करे तो उसपर भगवान्‌की कृपा-सुधा-धारा निश्चय ही बरसकर उसे सर्वथा दोषमुक्त करके सदाके लिये भगवान्‌का निजजन बना देती है। बस, एक बातको मनमें दृढ़ रखना चाहिये—

'मैं भगवान्‌का हूँ—भगवान्‌का ही हूँ। भगवान् ही मेरे हैं, और कुछ भी मेरा नहीं।'

'भगवान्‌की स्मृति निरन्तर बनी रहे और उसमें आसक्ति बढ़ती रहे'—ऐसा मनोरथ तथा प्रयत्न करना चाहिये। भगवान्‌के प्रति पूर्ण समर्पणके लिये सदा-सर्वदा सचेष्ट रहना चाहिये।

× × × × ×

भगवान् श्रीश्यामसुन्दरकी कृपा तो सदा ही बरसती रहती है—अपार और अनन्त। उसे ग्रहण करनेकी शक्ति भी उनकी कृपासे ही मिलती है। अपनी असमर्थता और उनकी कृपाका प्रगाढ़ विश्वास ही कृपाग्रहण करनेका साधन है—

तुम्हरी कृपा तुम्हहि रघुनंदन। जानत भगत भगत-उर-चंदन॥

× × × × ×

भगवान्‌में विश्वासपूर्वक मन लग जाय तो सारे विघ्नोंका नाश उनकी कृपासे अनायास ही हो जाता है और सारे 'योगक्षेम' (अप्राप्त साधनकी प्राप्ति तथा प्राप्त साधनकी रक्षा) का वहन वे स्वयं करते हैं—

'मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।'

'..........................योगक्षेमं वहाम्यहम्॥'

अतः भगवान्‌की कृपापर विश्वास रखकर निश्चिन्त आगे बढ़ते रहो।

'सखा-भावसे श्रीकृष्णके साथ जो मधुर सम्बन्ध है, इसका निरन्तर अनुभव होता रहे, अर्थात् उनके पास बैठे रहने, काम करने, मुसकराने तथा लीलामें साथ रहनेकी अनुभूति होती रहे'—तुम्हारा इस प्रकारका मनोरथ बहुत ही उत्तम है।

जहाँतक मेरा विश्वास है—कन्हैया बड़े ही सरल प्रेमी हैं। उनसे जो जैसे चाहे, वैसे ही करा सकता है। शर्त एक ही है कि भाव सच्चा हो और अनन्य हो। तुम अपने मनमें यह निश्चय कर लो कि 'कन्हैयाने तुमको अपने प्यारे सखाओंमें स्वीकार कर लिया है' और फिर निरन्तर उनके साथ रहनेकी दृढ़ भावना तथा अनुभूति करो। होगा तो सब उनकी कृपासे ही। जो उनकी कृपापर विश्वास करता है, वह कभी निराश नहीं होता। निरन्तर भगवान् श्रीकृष्णके साथ रहने, उनकी सेवा करने, उनकी लीलाका दर्शन करनेका अभ्यास करना चाहिये। जितना-जितना मन उनकी संनिधिमें रहेगा, उतनी-उतनी ही लीलानुभवकी अधिक सुविधा होती जायगी।

× × × × ×

तुम्हारा मेरे पास रहनेका मन है, यह मैं जानता हूँ। यह तुम्हारा प्रेम है। परंतु अपनेको तो सदा-सर्वदा प्रियतम श्रीकृष्णकी 'हाँ'में 'हाँ' मिलानी है। वे जहाँ, जैसे, जब रक्खें—वहीं रहना है। बस, चित्तसे एक क्षणके लिये भी उनकी प्यारी और मीठी स्मृति न भूले। शरीरको खूब खराब करके हवा-पानी बदलनेके बहाने मेरे पास आनेकी इच्छा क्यों करनी चाहिये? शरीर भी तो उनका है, वे जैसे चाहें, वैसे उसे रक्खें। तुम उसे खराब करनेवाले कौन हो? तुम्हारा भाव सुन्दर है, पर सब कुछ प्रियतम श्रीकृष्णपर छोड़कर निश्चिन्त हो जाना चाहिये।

× × × × ×

तुम्हारे मनमें जो यह अभिलाषा है कि 'निरन्तर प्रेमास्पद श्रीकृष्णकी मधुर स्मृति होती रहे और उनके सुखमें सुखी रहा जाय तथा मनसे सदा-सर्वदा व्रजमें श्रीकृष्णके साथ ही रहा जाय'—सो ये दोनों ही अभिलाषाएँ बड़ी ही श्रेष्ठ हैं। भगवान्‌की बड़ी कृपासे ही ऐसी सद्भावना हुआ करती है। पर ये चीजें दे देना—मेरे हाथकी बात नहीं है। मैं तो स्वयं सदा इनके लिये तरसता रहता हूँ। प्रियतम भगवान् श्रीकृष्णसे प्रार्थना करो, वे ही तुमको देंगे।

× × × × ×

भगवान्‌के प्रत्येक विधानमें उनको सुखी देखकर सदा संतुष्ट रहना चाहिये। 'वे जो कुछ विधान करते हैं, हमारे मङ्गलके लिये करते हैं'—यह बहुत ऊँची बात होनेपर भी इससे तो नीची ही है कि 'हमें अपने मङ्गल-अमङ्गलकी कोई कल्पना ही न हो। बस, वे प्राणाराम सुखी होते हैं, इससे प्रत्येक स्थिति हमारे लिये परम सुखमयी है।' नित्य-निरन्तर उनके सुखसे सुखी होनेवाला तथा उनकी मधुर मुसकानमें परम आह्लादकी अनुभूति करनेवाला मन होना चाहिये। संसार जो कुछ है, उन्हींकी अभिव्यक्ति है और जो कुछ हो रहा है, सब उनकी लीला है। लीलामें सभी दृश्य और रस आते हैं—मधुर भी और भयानक भी। सबमें उनका मङ्गलमय दर्शन और स्पर्श प्राप्त करके परम प्रसन्न रहना चाहिये।

× × × × ×

भगवान् श्रीश्यामसुन्दर तथा भगवती श्रीराधारानीकी अपने ऊपर सदा अनन्त कृपा समझनी चाहिये। समझनी क्या है, वह तो सदा-सर्वदा है ही; हर अवस्थामें उनकी कृपा कार्य कर रही है। यदि हर स्थितिमें उनकी प्रसन्नताको, सुखको तथा उनके मधुर मनोहर मृदुल हास्ययुक्त मुखकमलको ही देखा जाय, तब तो प्रत्येक परिस्थिति उनको सुख देनेवाली होनेके कारण परम सुखमयी हो जाती है। दूसरी

बात—नित्य-निरन्तर उनको अपने अत्यन्त निकट एवं सब कार्योंमें साथ देखना चाहिये तथा केवल मन-बुद्धिसे ही नहीं, इन्द्रियोंसे भी उनका दिव्य संस्पर्श प्राप्त करते रहना चाहिये।

× × × × ×

जरा भी वहम न करे और बीमारीका तनिक भी चिन्तन न करके निरन्तर भगवच्चिन्तन ही करता रहे। 'मैं बीमार, मैं बीमार'—न सोचकर, 'मैं प्रभुका निजजन, प्रभुका अपना सेवक, प्रभुका कृपापात्र'—यों सोचे और निश्चय करे।

× × × × ×

'भगवत्प्रेम'में यह मान्यता सहज होती है—'भगवान् हमारे परम प्रेमास्पद हैं; उनका मन जिस बातमें राजी है, उसीमें हम राजी हैं; चाहे वह बात हमारे लिये कितनी ही विपरीत क्यों न हो।' प्रेमास्पद यदि प्रेमीको समीप न रखकर बहुत दूर रखनेमें ही प्रसन्न है तो प्रेमी इस वियोग-दुःखको सुखके रूपमें अनुभव करता है; क्योंकि उसे तो प्रेमास्पदके सुखमें ही सुख है। जब भगवान्‌का कोई मङ्गलविधान हमारे मनके प्रतिकूल हो, तब हमें यह मानना चाहिये कि 'भगवान् ऐसा ही चाहते हैं' और तुरंत हमारे मनकी प्रतिकूलता अनुकूलताके रूपमें परिणत हो जानी चाहिये; क्योंकि हमें तो प्रेमीके नाते भगवान्‌की प्रसन्नतामें ही परम सुखका अनुभव करना है। चातकके प्रेमकी इतनी महत्ता इसीसे है कि वह अपने प्रेमास्पद मेघके बुरे वर्तावपर जरा भी ध्यान न देकर नित्य सहज ही मेघके प्रति अनन्य प्रेम रखता है—

रटत-रटत रसना लटी, तृषा सूखिगे अंग।
तुलसी चातक प्रेम को, नित नव नूतन रंग॥
बरषि परुष पाहन पयद पंख करो टुक टूक।
तुलसी परी न चाहिऐ चतुर चातकहि चूक॥
चढ़त न चातक चित कबहुँ प्रिय पयोद के दोष।
तुलसी प्रेम पयोधि की ताते माप न जोख॥

चातकके इस आदर्शके अनुसार जो प्रेमास्पद भगवान्‌की राजीमें ही परम प्रसन्न है, वही प्रेमी है और हमारे लिये वही आदर्श है।

× × × × ×

यह सत्य है कि मनुष्य अपने साधन या पुरुषार्थसे भगवान्‌को अथवा भगवत्प्रेमको प्राप्त नहीं कर सकता। भगवत्कृपासे ही प्रेमकी प्राप्ति होती है। बस, दो बातें होनी चाहिये—प्रेम प्राप्त करनेकी अदम्य तथा अनन्य लालसा—तीव्र उत्कट उत्कण्ठा और भगवत्कृपामें अडिग विश्वास। जहाँ उत्कण्ठा और विश्वास मिल जाते हैं, वहाँ भगवत्प्रेमकी प्राप्ति सहज हो जाती है। प्रेमका यथार्थ स्वरूप क्या है, न तो वह बुद्धिमें आता है, न वाणीमें आता है, वह तो भगवत्कृपासे ही प्रेमीके मनमें स्फुरित होता है।

× × × × ×

संसारमें किसी वस्तुमें जरा भी आसक्ति नहीं होनी चाहिये—गयी वस्तुमें, वर्तमान वस्तुमें और भविष्यकी कल्पित वस्तुमें भी। शरीरके आरामका ध्यान भी हानिकर है; कभी आराम न मिलनेपर इससे दुःख हो सकता है। व्यवहारमें अपनी बातका हठ न करे, दूसरेकी निर्दोष बातको सदा मान दे; सबका सम्मान करे—स्वयं मान न चाहे; बर्ताव वैसा ही अच्छा करे, जैसा दूसरोंसे अपने लिये चाहता है; किसी भी प्राणी-पदार्थ, स्थिति, अवस्था, वस्तुसे कोई भी आशा न रक्खे, पर दूसरेकी निर्दोष आशाको यथासाध्य पूरा करना रहे। सबमें भगवद्भाव रक्खे; सबसे यथायोग्य सम्मान, प्रेम तथा

हितका सच्चा बर्ताव करते हुए सबको सुख पहुँचावे। इस प्रकार करनेसे व्यवहार शुद्ध हो जाता है। व्यवहारमें गड़बड़ी चाहसे आती है, अतः किसीसे कभी कुछ चाहे ही नहीं।

× × × × ×

भजनमें संतोष न होना, कभी दिखना तो गुण ही है, परंतु भजन होना चाहिये अवश्य। भजन न होनेपर मनका दुखी रहना सौभाग्यकी बात है। 'भजन न होनेका दुःख' ही भजन कराता है। यह भजनके अभावका दुःख यदि पराकाष्ठाको पहुँच जाय, तब तो भजन उसका जीवन ही बन जाता है। पर भजन होता है—मनसे। मन यदि संसारके प्राणी-पदार्थोंमें कभी अधिक आसक्त होकर उनसे सुख-दुःखका अधिक अनुभव करने लगता है, तब भजन कम हो जाता है अथवा छूट जाता है। इस अवस्थामें यदि भजन न होनेका दुःख भड़क उठता है, भजन न होनेकी पीड़ा जाग उठती है तो भजन पुनः होने लगता है और सुन्दर होता है। 'तद्विस्मरणे परमव्याकुलता'—भगवान्‌को भूल जानेपर परम व्याकुलता होनी चाहिये। यही तो भक्ति है।

× × × × ×

सबसे पहली और सबसे आखिरी बात तो एक ही है—एक भी क्षण हमारे जीवनका प्रभुकी पवित्र तथा मधुर-मधुर स्मृतिसे रहित नहीं बीतना चाहिये। भगवान्‌की यह वाणी याद रहे—'सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर।'

कक्कूकी गाय

(लेखक—श्रीशंकरसिंहजी वेदालंकार, एम्० ए०)

मेरे कक्कू भी एक विचित्र जीव थे। उनमें जहाँ अन्य अनेक विचित्रताएँ थीं, वहाँ गो-भक्तिकी भी एक महती विचित्रता थी। उनके हाथमें जो गाय आयी, उसके भाग्य खुल गये, जन्म-जन्मका सोया पुण्य करवटें लेने लगा। योगेश्वर श्रीकृष्ण और महाराजा दिलीपकी गोभक्ति तो मैंने केवल इतिहासमें ही पढ़ी थी; पर आँखोंदेखी ऐसी गो-भक्तिका उदाहरण न तो अभीतक देखनेमें आया है और न आनेकी ही सम्भावना है। जिन लोगोंने उन्हें गो-सेवा करते देखा है, वे यही कहते सुने गये हैं कि 'चाहे जो कुछ हो, पर इसे स्वर्ग तो अवश्य मिलेगा।' गाय हमारे कक्कूकी प्राण थी। यदि वह कुछ देरतक दूर रहती तो उनके प्राण भी उतने समयके लिये संकटमें पड़े रहते। जैसे मछली जलसे पृथक् होकर जीवित नहीं रह सकती, वैसे ही मेरे कक्कूका भी गायके बिना जीना कठिन था। उनके हृदयमें गायके प्रति ऐसी ममता थी कि उसकी कोई दूसरी उपमा नहीं दी जा सकती। केवल दिलीप ही उनकी समता कर सकते थे, पर इस युगमें तो उन-जैसा देखनेको मिला नहीं और न ही अभीतक कानोंमें ऐसे गो-भक्तकी आवाज आयी है।

इस संसारमें किसीको अपना भाई प्यारा होता है तो किसीको अपना पिता; किसीको अपनी माँ प्यारी होती है तो किसीको अपनी बहिन; किसीको अपना मित्र प्यारा होता है तो किसीको अपने पुत्र; पर हमारे कक्कूको इनमेंसे कुछ भी कोई भी प्यारा न था। वे अविवाहित थे, इस कारण पुत्र-प्रेमका तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता, वे अपने कामों और विचारोंमें केवल एक ही थे।

हाँ, यदि जगत्‌में उनका कोई माँ-बाप था, सगा-सम्बन्धी था तो वह थी उनकी गाय। उसे उनका चाहे आप मित्र कह लीजिये या बहन कह लीजिये—सभी सम्बन्ध उसमें घट जाते थे। गायकी उन्होंने चाहे जितनी सेवा की हो, वह उनकी दृष्टिमें सदैव कम रही। दिन-दिनभर गायके पीछे घूमना, अच्छी-से-अच्छी दूर्वाकी मुट्ठियाँ भरकर खिलाना तथा और अनेक प्रकारसे सेवाएँ करना, तो भी यह कहते रहना—'न जाने क्या बात है, गायका आज पेट नहीं भरा है। आज इसने पानी भी ठीकसे नहीं पिया है'—ऐसी ही सारी चिन्ताएँ उन्हें बनी रहती थीं। सचमुच, यह उनकी निष्कामताका अद्भुत और असम्भव उदाहरण था।

वस्तुतः गौ उनकी सर्वस्व थी। यदि गौने पानी कम पिया तो यह बात वे दो-तीन व्यक्तिसे पूछे बिना न रहते। यदि चारा कम खाती तो यह भी उनकी चिन्ताका विषय बन जाता। गौके गोबरको टुकड़े-टुकड़े करके देखते रहते कि कहीं गोबरमें कीड़े आदि तो नहीं हैं? पेशाब ठीक है या नहीं, इसका पता वे सूँघ-सूँघकर लगानेका प्रयत्न करते। ये

सब विचित्रताएँ नहीं हैं तो और क्या हैं ? प्रतिदिन गायको स्नान करवाना, उसकी आँखोंका कीचड़ पोंछना, कानोंका मैल निकालना, पूँछके नीचे पड़ जानेवाली किलैनियोंको दूर करना, गल-कम्बलको सहलाना, सींगोंका अलंकरण, खुरोंकी सफाई आदि कार्य उनकी दिनचर्याके प्रमुख आवश्यक अङ्ग थे ।

यदि गाय न चरती तो अपने भी भूखे रह जाते । जहाँ सोते, गायको भी वहीं बाँध लेते । कई बार मैंने गायके गोबरको उनकी चारपाईपर पड़ा देखा । वे इन सब चीजोंसे प्रसन्न होते थे । जैसे कोई छोटा बच्चा जब किसीकी गोदीमें पेशाब या टट्टी कर देता है तो लोग प्रसन्नतापूर्वक उसे प्यारके शब्द कहते हुए वात्सल्यका भाव प्रकट करने लगते हैं, ठीक यही स्थिति कक्कूजीकी गायके साथ थी । वे कभी गायसे न अप्रसन्न होते और न कोई सेवामें कमी आती । बात करते तो गौसे, हँसते तो गौसे और दुःख-दर्दकी बातें सुनानी होतीं तो भी गौसे ! बाहर तो वे कभी जाते ही न थे, यदि जाते तो गौकी चिन्ता बनी रहती । यदि सवारी गाड़ीमें गायके ले जानेकी अनुमति होती तो मेरे कक्कू उसे जरूर रेलमें सफर करवाते । गायकी सेवाके लिये सदैव व्यग्र रहते । कभी उसकी पीठपर हाथ फेरते तो कभी पैर दबाते, कभी पूँछका गुच्छा पकड़कर कपोलोंपर रगड़ते, तो कभी मुँहसे-मुँह लड़ाकर प्रसन्न होते ।

गायको किसीने हाथ भी लगा दिया तो उनके तापमानका ठिकाना न रहता; रस्सीकी भाँति ऐंठते चले जाते और न मालूम क्या-क्या कह जाते । उनकी इस प्रकृतिसे लोग परिचित थे, इस कारण कभी-कभी लोग मनोरञ्जनके बहाने गायको छेड़ दिया करते थे । किसी लड़केने यदि गायको छड़ी मार दी तो वह उनकी आँखोंसे सदाके लिये उतर गया । फिर उसने भले ही कितना प्रयत्न मनानेके लिये किया हो, पर सफलता दुर्लभ ही रही । गायके लिये वे सब कुछ छोड़नेको तैयार रहते थे ।

एक बार पानी बरसने लगा । कहीं कोई ऐसा स्थान न था जहाँ गौको बाँधा जा सके । मैं और वे एक ही बँगलेमें लेटे थे । दो चारपाइयोंके अतिरिक्त स्थान न था, तो भी वे गायको ले आये और लगे चिल्लाने—'उठो, उठो, गाय भीग रही है ।' मैंने कहा—'यहाँ जगह कहाँ है ? यहाँ आप इसे बाँधेंगे ?' कहने लगे—'अपनी चारपाई तिरछी करो और मैं भी तिरछी करता हूँ, जगह हो जायगी ।' उनकी बात मैंने मानी, कुछ जगह हुई । गौमाताको स्थान मिल गया, तब उन्हें शान्ति मिली । रातमें आधी चारपाई मेरी भीग गयी और उनकी भी । नींद तो आनी ही कहाँ थी । गौ देवीने जो पिलपिला गोबर किया, उससे सारा बिस्तर हरा-भरा हो गया । प्रातः उठते ही सफाई-अध्याय प्रारम्भ हो गया । मनमें क्रोध था, इस कारण कुछ बक भी रहा था । मेरी क्रोधभरी दृष्टि जब कक्कूजीने देखी तो बोले—'नरकमें पड़ेगा, नरकमें ! गायका गोबर-मूत्र सब अमृतके तुल्य है । उससे घृणा नहीं करनी चाहिये । देवता भी इसके गोबरको तरसते हैं । ऋषि सदैव अपने आश्रमोंमें इसकी सेवा करते रहे हैं । इसकी सेवासे ही मेवा मिलती है । इस प्रकार कहना ठीक नहीं ।' उपदेश प्रारम्भ हुआ तो फिर ऐसे-ऐसे उदाहरण और विचार निकलने लगे, जिनको यहाँ शब्दोंमें बाँधना बड़ा दुष्कर है । यदि ध्वनि-संग्राहक यन्त्र होता तो आज गो-भक्तोंके व्याख्यानोंके लिये वह बड़ी अमूल्य अद्भुत सामग्री होती, बहुतोंके हृदय दयासे भर जाते और मस्तिष्क परिवर्तित हो जाते । पर वह भी मैं राष्ट्रका दुर्भाग्य ही समझता हूँ ।

एक दिन गाय किसी कारणसे घरपर समयसे न आ सकी । यद्यपि वे गायको कभी अकेली नहीं छोड़ते थे, पर पानी पीनेके लिये घर चले आये थे । जब वह कुछ देर और न आयी तो वे व्याकुल हो गये । गाँवकी गली-गली छान डाली । घर-घर बाहर सभी ओर देखा, पर वह दृष्टिमें न आयी । दूसरे गाँव भागे, रास्तेमें काँटे लगे, गिर पड़े; चोटें लगीं, कराहे, रोये, पर बेचैन । 'हाय ! गाय कहाँ गयी ! हाय ! गाय कहाँ गयी ?' मैंने सोचा, पता नहीं, कहाँ-कहाँ भटकेंगे, इसलिये गया और इन्हें आवाज दी कि गाय घर आ गयी है । मैंने देखा कि इतना सुनते ही उनका बेचैनीसे श्यामल मुखमण्डल अरुणाभाकी रागिमासे अनुरञ्जित हो उठा । बड़ी कृतज्ञताकी ध्वनिमें बोले—'भगवान् तुम्हारा भला करें, खुशी रहो । बड़ा अच्छा समाचार दिया ।' यह आशीर्वाद भी न जाने कितने वर्षोंके बाद मुझे मिला था । अनेक बार चरण स्पर्श करनेपर भी 'खुश रहो ।' की ध्वनि इसने कभी न सुनी थी । आज मेरा सचमुच भाग्यका उदय ही हो गया था । वे घर आये, गायसे लिपटे, पीठपर हाथ फेरा, पुचकारा, पानी लाये, पिलाया, सानी की, तब कहीं उनकी जानमें जान आयी । यदि किसीको गायका जन्म मिलनेवाला हो तो वह हमारे कक्कूकी गाय बनना पसंद करेगा । ईश्वर करे, लोगोंमें हमारे कक्कू-जैसी गोभक्ति आये ।

होना और बनना

(लेखक—श्रीहरिकिशनदासजी अग्रवाल)

हमारा सारा जीवन कुछ-न-कुछ बननेमें चला जाता है। हम किसी दूसरे-जैसा बनना चाहते हैं, अपने-जैसा होना नहीं चाहते। हर एक मनुष्यकी प्रकृति भिन्न-भिन्न है। वह जब भी होगा, अपने जैसा ही होगा, किसी दूसरे-जैसा बन नहीं सकता। इसलिये कुछ बननेकी चेष्टा ही व्यर्थ है।

मनुष्यका जीवन संस्कारोंका पुलिंदा है। हर एकके संस्कार भिन्न-भिन्न हैं, उसने विभिन्न वातावरणमें शिक्षा आदि पायी है, इसलिये प्रत्येक मनुष्यकी अपनी-अपनी विशेषता होती है।

सन्तरेका बीज सन्तरा होकर ही रहेगा और नीबू-मौसम्बीका बीज नीबू-मौसम्बी होकर ही; जो बीजमें रहता है, वही पौधेके रूपमें फलीभूत होता है। गुलाबका फूल गुलाब होकर ही रहेगा। गुलाब मौलसरी-चम्पा इत्यादि नहीं बन सकता; वह जब भी बनेगा गुलाब ही बनेगा। उसकी मौलसरी-चम्पा आदि बननेकी चेष्टा भी व्यर्थ है।

मनुष्य जब बड़े-बड़े प्रवक्ताओंको भाषण देते हुए देखता है, तो उसके मनमें प्रायः यह कामना होती है कि 'अगर हम भी प्रवक्ता हो जायँ तो हम भी आध्यात्मिक जीवनको प्राप्त हो जायँ। अथवा लेखक बन जायँ तो हमारी आध्यात्मिक उन्नति हो जाय।' इन सभी कपोल-कल्पनाओंमें मनुष्य जीता है और जो वह है, उसे जाननेसे वञ्चित रह जाता है। यदि मनुष्य किसी-जैसा न बनना चाहे, वह जैसा है, उसे वैसा ही जाने, तो उसकी आध्यात्मिक उन्नतिका मार्ग बड़ा ही सरल और सुगम हो सकता है।

अभीतक हम जो बने हुए हैं, अर्थात् अपने ऊपर अनेक व्यक्तित्वोंके खोल ओढ़े हुए हैं, उनको जबतक नहीं उतारते, तबतक हम अपने जाननेकी सहलक नहीं पहुँच सकते।

मनुष्य जो दिखायी देता है, वह वही नहीं है, उसके अंदर और कई वासनामय शरीर भी हैं। कभी वे वासनाएँ क्रोधके रूपमें प्रकट होती हैं, कभी किसीको मार देनेकी सोचती हैं। समाजके, परिवारके, सभ्यताके भयसे हम अपनी वृत्तियोंको बाहर नहीं निकलने देते, वे अंदर-ही-अंदर ही छिपी और दबी रहती हैं। उसका परिणाम यह होता है कि मनुष्यके अंदर वृत्तियाँ दबी रह जाती हैं और वह बाहरसे सज्जनताका लिबास पहने हुए अंदरसे दुर्जनताके विचार करता रहता है।

मनुष्यके अंदर छिपी हुई वासनाएँ ही विचार बनती हैं और वे ही सोते समय स्वप्न बनकर प्रतीत होती हैं। हमारी ही छिपी हुई वृत्तियाँ स्वप्नमें आकृतियोंके रूपमें बाहर आती हैं, तब हमें पता चल सकता है कि हमारे व्यक्तित्वमें क्या कुछ भरा हुआ है। मनुष्य कभी साधुताका लिबास पहन लेता है और दूसरोंके सामने अपनेको साधु प्रकट करता है, किंतु सोते समय उसको जो स्वप्न आते हैं, वह उसके सही व्यक्तित्वके सूचक होते हैं। हम जाग्रत्-अवस्थामें अपनी वृत्तियोंको दबा सकते हैं, किंतु सोते समय वे ही वृत्तियाँ स्वप्नके रूपमें प्रकट हो जाती हैं और हमारी दबी वासनाओंकी पूर्ति करती रहती हैं।

हमने अपने ऊपर इतने झूठे व्यक्तित्व ओढ़ लिये हैं कि हमारा निजी अस्तित्व ही छिप गया है। निजी अस्तित्व तभी प्रकट होता है, जब ऊपरके सभी बनावटी खोल हट जाते हैं और हम जो हैं, वही दीख पड़ते हैं। ऐसे मनुष्यका सोचना और करना एक हो जाता है। प्रायः लोग सोचते कुछ और हैं और करते कुछ और। इसीलिये उनका व्यक्तित्व बनावटी दोहरापन लिये हुए रहता है। वे होते हैं अंदरसे विक्षिप्त तथा बाहरसे कुछ और दिखायी पड़ते हैं। हमारी यही बनावट हमारे असली होनेमें बाधक है।

एक टाटवाला बाबा रेलके डिब्बेमें बैठा। उसके बहुत-से अनुयायी, जो बाबाको स्टेशनपर छोड़नेके लिये आये थे, बाहर खड़े बाबाकी 'जय-घोष' लगा रहे थे। वे अनुयायी अपनी-अपनी श्रद्धा-भक्तिके अनुसार भेंट-पूजा भी चढ़ा रहे थे। जब गाड़ी चलने लगी तो बाबाके लिये बहुत-से 'जय-घोष'के नारे लगे और गाड़ी चल पड़ी। बाबा टाटके ठाटमें आयी हुई धन-राशिको बड़े ही लगावके साथ नोटोंको अलग-अलग करके गिनने लगा और उन्हें अपनी

अंटीमें उसने मजबूतीसे बाँध लिया। बाबाको जिस स्टेशनपर उतरना था, उसके बारेमें वह बार-बार पूछता कि 'अमुक स्टेशन कब आयेगा ? कितने बजे गाड़ी वहाँ पहुँचेगी ?', जब किसीने बताया कि अगला स्टेशन वही है, जहाँ आप जाना चाहते हैं, तो बाबा टाटको बाथरूममें जाकर सँवारकर ठीकठाक बनाकर बाहर निकला।

सादगीके लिये यदि अन्य कोई कपड़ा नहीं मिलता हो तो टाट पहननेमें कोई हर्ज नहीं है; किंतु जान-बूझकर जनताके सामने अपने व्यक्तित्वकी छाप डालनेके लिये टाट पहनना एक प्रकारका दम्भ है। टाट पहनना ही आध्यात्मिकताकी निशानी है, ऐसी बात नहीं। होना एक ढंग है और बनना ढोंग; ढंग अपना स्वरूप है और ढोंग दूसरोंका अपनाया हुआ रूप है।

प्रायः देखा गया है कि टाट पहननेवालोंमें भी कोई-न-कोई कामना छिपी रहती है और वे अपना प्रभाव जनतापर डालकर अपनी कामनाकी पूर्ति करना चाहते हैं। हो सकता है कि वे अंदरसे बहुत लोभी हों और बाहरसे टाट पहनकर अपने त्याग-वैराग्यकी छाप जनतापर डालना चाहते हों। त्याग-वैराग्य कपड़ेसे प्रकट नहीं होते, त्याग-वैराग्य अन्तरकी अभिव्यक्ति है। जब मनुष्यमें त्याग-वैराग्य आता है तो उसके कपड़े स्वयं बदल जाते हैं, उसे बदलना नहीं पड़ता। ऐसे मनुष्यका व्यक्तित्व फटे कपड़ोंमें भी सुन्दर दिखायी देता है। उसके चेहरेपर प्रसन्नता, हृदयमें शान्ति प्रतीत होती है। उसमें कोई वासना-कामना न होनेके कारण वह परम वैराग्यवान् होता है।

हम कपड़ोंसे त्यागी-वैरागी बनना चाहते हैं, किंतु इससे अपने ऊपर अज्ञानताका आवरण ही चढ़ा लेते हैं। किसी प्रकारकी बनावट, चाहे योगी-तपस्वी-संन्यासीकी हो या विद्वान्, प्रवक्ता, लेखक आदि बननेकी, कुछ भी बनना एक प्रकारका आवरण है, जिसको हटाये बिना मनुष्य स्वरूपतक नहीं लौट सकता।

कैमरामें जब फोटो ली जाती है, तब कैमराके शीशोंमें दृश्य, जो कि दोहरे दीखते हैं, उन्हें एक लाइनमें लाया जाता है, तब फोटो (फोकस) Focus होकर ठीक निकलता है। अगर कैमरेकी दो लाइन एक नहीं होती तो फोटोमें चित्र बराबर नहीं उतरता। यही हालत मनुष्यमें भी है। जबतक उसका व्यक्तित्व दोहरा रहता है, तबतक उसे अपनी पहचान नहीं होती। उसके ऊपर बनावटका आवरण चढ़ा रहता है; किंतु ज्यों-ही वह बनावटका आवरण दूर होता है कि मनुष्यके अंदर स्वरूप निखर जाता है।

परमात्मा बनावट, दम्भ, कपट आदिको पसंद नहीं करता। वह तो यह कहता है कि 'तुम जैसे हो, वैसे ही मेरी ओर आओ, तब मुझे पहचान सकते हो। यदि कुछ बनने-बनानेकी चेष्टा करोगे तो जो हो उसको जाननेसे भी वञ्चित रह जाओगे।' परमात्मा भोले-भाले, सरल-सहज-निष्कपट व्यक्तिको मिलता है। जहाँपर सहजता-सरलता नहीं होती और किसी प्रकारकी बनावट होती है, वहाँ परमात्मा ओझल हो जाता है।

सहजता-सरलता शुद्ध अन्तःकरणकी निशानी है। जो अन्तःकरण दर्पणकी तरह शुद्ध होता है, उसमें अपना मुखड़ा देखनेमें देर नहीं लगती। इसी प्रकार जब मनुष्यका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है और वह परमात्माको ही जानना चाहता है, तो वह जैसा है, वैसा ही परमात्माके समर्पित हो जाय, तब उसके अन्तःकरणके दर्पणमें परमात्मा उत्तर आता है।

जो मनुष्य किसी और-जैसा बनना चाहता है, उसके अंदर कामनाएँ-वासनाएँ, विचार, कल्प-विकल्प होते रहते हैं और उसमें विचारोंके साथ तादात्म्य बना रहता है। मनुष्यके संकल्प-विकल्पोंने परमात्माको ढक लिया है। जहाँ संकल्प-विकल्प नहीं रह जाते, वहाँ मन खाली हो जाता है और खाली मनमें केवल परमात्मा ही रह जाता है।

मन जब संकल्प-विकल्प करने लगता है, तब वह संसारोन्मुख होता है और वही मन जब निःसंकल्प तथा निर्विकल्पताको प्राप्त होता है, तब यह ब्रह्मोन्मुखताको प्राप्त होता है। यही जानना है और यही होना है; अन्यथा बननेसे हमें स्वरूप-प्राप्ति नहीं होती।

बननेकी चेष्टा व्यर्थ है, बननेमें रूप बिगड़ता है।
जो बनता है, वह मिटता है, मिटता बनता ही रहता है॥
हार-मुकुट बनकर-मिटकर, सोना सोना ही है।
तू है सत्-चित्-आनन्द, यही स्वयंका होना है॥

पढ़ो, समझो और करो

(१)

मित्रता

लगभग पैंतालीस साल पहलेकी बात है । मैं उस समय एक बड़े नगरमें व्यापार करता था । यद्यपि व्यापारमें मुझे सफलता कम ही मिली थी, पर बड़े-बड़े व्यापारियोंके तथा समाजके सुप्रतिष्ठित पुरुषोंके मनमें मेरे प्रति बहुत श्रद्धा, प्रेम तथा आदरका भाव था । मेरी बातका बहुत बड़ा विश्वास था सभी लोगोंके हृदयोंमें । मेरे एक परिचित मित्र सज्जन थे, वे एक बड़े फर्ममें प्रधान व्यवस्थापक थे, पर वे अपना सट्टेका काम भी करते थे—बड़े पैमानेपर । लोग जानते भी थे, परंतु उनकी ईमानदारीमें भी लोगोंको विश्वास था । एक बार उनके बहुत घाटा लगा । भुगतानकी और व्यवस्था तो हो गयी, पर लगभग साठ हजार रुपयेकी कमी पड़ रही थी । ये जिस फर्ममें काम करते थे, उसके मालिक इनके सट्टेके व्यापारसे जानकार तो थे, परंतु उनका विश्वास था कि ये ऐसा काम कभी नहीं करेंगे कि जिससे इज्जतमें कोई बाधा आवे । पर यह नियम कर रक्खा था कि फर्ममेंसे ये अपने नाम लिखकर व्यापारके लिये एक पैसा भी कभी नहीं उठायेंगे । यह बात भी प्रसिद्ध थी कि ये लाखों रुपये कमा चुके हैं । पर इधर कई दिनोंसे उनको घाटा लग रहा था, इससे पासकी पूँजी समाप्त हो गयी थी । सट्टेबाज लोग प्रायः घाटा भरनेके लिये दूना-चौगुना काम किया करते हैं, यद्यपि यह कमजोरी है । मेरे इन मित्रमें यह कमजोरी भी नहीं थी, इससे ये घाटा दिखतेही सौदा काट देते थे । परंतु होनहारकी बात—इधर इनको उलटी सलाह मिलती रही; घाटेमें सौदे खड़े रहे और बढ़ते रहे—इसीसे इनकी पूँजी समाप्त हो गयी और इस समय साठ हजार रुपयोंके लिये इनका भुगतान अटकनेकी सम्भावना हो गयी । ये घबराये । असली हालत ये किसीको न बतलाना चाहते थे, न बतलानेमें लाभ ही था । मुझसे भी ये कम ही बताते थे । पर कभी बता देते थे और यद्यपि मेरे पास पैसे नहीं थे, पर काम अटकनेपर कभी-कभी मेरे द्वारा इनका काम निकल भी जाता था । पर इन दिनों मैं बाहर गया हुआ था । इनको जब कोई रास्ता नहीं दिखायी दिया, तब इन्होंने दुःसाहस करके मेरे नाम लिखवाकर साठ हजार अपने फर्मसे लेकर अपना भुगतान कर दिया । इस फर्मसे मेरा लेन-देनका सम्बन्ध नहीं था, पर मुझपर श्रद्धा-विश्वास होनेके नाते फर्मके मालिकने इनसे कह रक्खा था कि 'मुझको कभी आवश्यकता होनेपर उनसे बिना पूछे ये एक लाख रुपये तक मुझे दे सकते हैं ।' इसीका इन्होंने लाभ उठाया । इनका भुगतान हो गया । इसके पंद्रह-बीस दिन बाद फर्मके मालिकने खातेमें मेरे नाम साठ हजार रुपये देखे तो उन्होंने पूछा—तब इन्होंने कह दिया कि 'उनको आवश्यकता थी, इसलिये रुपये दे दिये गये थे । आपकी अनुमति थी ही ।' मैं उस दिनतक बाहरसे नहीं लौटा था । इधर लोगोंकी कानाफूसीके जरिये यह बात कुछ-कुछ फैल गयी थी कि मेरे इन मित्रको इधर बड़ा घाटा लगा है । इससे इनके फर्मके मालिकके मनमें कुछ संदेह पैदा हो गया कि 'शायद रुपये मैंने नहीं लिये हैं, उनके व्यवस्थापकजीने ही मेरे नाम लिखकर ले लिये हैं ।' उन्होंने फिर पूछा तो इन्होंने कहा कि 'रुपये उन्होंने ही लिये हैं, उनके हाथकी रसीद मेरे पास है । घरपर रक्खी है । मैं कल ला दूँगा ।' मैं उसी रातको आनेवाला था, यह मेरे इन मित्रको मालूम था । अतएव रात्रिको जब मैं लौटकर आया, तभी ये मेरे पास आये और सारी बात सुनाकर कहे कि 'मैंने यद्यपि आपके विश्वास तथा प्रेमका

दुरुपयोग किया है, बड़ा पाप किया है, पर मजबूर होकर मुझे ऐसा करना पड़ा। अब तो आप साठ हजार रुपयोंकी प्राप्तिकी रसीद लिख दें, तभी मेरी इज्जत बच सकती है।'

मैंने सारी बातें शान्तिपूर्वक सुनीं। मैंने सोचा, होना था सो हो गया। मैंने मन-ही-मन भगवान्से प्रार्थना की, वे सद्बुद्धि दें। तत्काल मेरे हृदयमें स्फुरणा हुई—रसीद लिख देनी चाहिये। मैंने उनकी बतायी हुई तारीख डालकर अपने हाथसे रसीद लिख दी और उसपर टिकट लगाकर हस्ताक्षर करके उनको दे दी। साथ ही, उनके कथनानुसार फर्मके मालिकके नाम एक पत्र लिख दिया कि 'मैंने आपके व्यवस्थापक महोदयसे कहकर उस दिन साठ हजार रुपये मँगवाये थे। पाँच-सात दिनके लिये आवश्यकता थी। मुझे उसी दिन बाहर जाना था, इसलिये मैं आपसे बात नहीं कर सका। रसीद उन्हें दे दी थी। पर अब एक अनुरोध है, बड़े संकोचके साथ लिख रहा हूँ—मेरे एक बड़ी अड़चन आ गयी, इसलिये मैं छः महीने बाद रुपये लौटा सकूँगा। आशा है आप इसे स्वीकार करेंगे।'

पत्र उन्हें दे दिया गया। शामको ही मेरे पास फर्मके मालिक महोदयका फोन आया कि 'आप इतना संकोच क्यों करते हैं? आपके रुपये तो मेरे घरमें ही पड़े हैं—सुरक्षित हैं। जब सुविधा हो, भिजवा दीजियेगा। मैंने रूबरू मिलकर आपसे इसलिये बात नहीं की कि कहीं आपको संकोच न हो। आपको आवश्यकता हो तो और रुपये भिजवा दूँ।' मैं तो उनकी बात सुनकर दंग रह गया। मैंने किस कामके लिये रुपये मँगाये—यह भी नहीं पूछा—वरं और देनेको तैयार। ऐसे मानव ही तो देवता हैं।

मैंने पत्र इसीलिये लिखा भी था कि वे रुपयोंके लिये तकादा न करें; क्योंकि मेरे इन मित्रने कहा था कि 'छः महीनेमें मैं कहीं व्यवस्था कर सकूँगा।' मैंने इनसे यही कहा था कि 'मेरे पास रुपये होते तो मैं इसी समय दे देता, आपके पास जब आते तब आप लौटा देते; पर मेरे पास नहीं है, इसलिये मैं पत्र लिख रहा हूँ।' इनको बड़ा संकोच हो रहा था कि इनके कारण मुझको मिथ्या रसीद देनी पड़ी तथा रुपयोंके लिये पत्र लिखना पड़ रहा है। पर ये भी निरुपाय थे। मेरे कथनानुसार इन्होंने भागवतोक्त गजेन्द्रस्तवन (भागवत अष्टम स्कन्ध, तृतीय अध्याय)का पाठ आरम्भ कर दिया। मैं भी चेष्टा करता रहा। भगवान्की कृपासे चार ही महीनेमें कुछ उन्होंने व्यवस्था की, कुछ मैंने—इनके मालिकके रुपये व्याजसमेत लौटा दिये गये। भगवान्ने लाज तथा इज्जत रक्खी।

—एक मित्र

(२)

गाँव छोटा, मानव बड़ा

पाँच वर्ष पूर्व जर्मनीसे एक दम्पति (पति-पत्नी) आये थे। बंबईसे दिल्ली जाते समय ट्रेनमें उनसे भेंट हो गयी। फिर तो चार महीने साथ-साथ घूमे। उनके साथ सामान बहुत थोड़ा था। एक हाथपेटी और एक बगलका झोला। एक दिन शामको कुछ दूर पैदल चलकर हम तीनों एक छोटे-से गाँवके बाहर, एक कुएँके पास, जिसमें रँहटसे जल चल रहा था, आये। हाथ-मुँह धोकर जलपान किया और फिर बगलके बड़की छायामें लेट गये।

वहाँ एक आधे संन्यासी तथा आधे गृहस्थी-वस्त्र पहने एक पुजारी-जैसे भाईने आकर कहा—'राम, राम। भाई! कहाँसे आ रहे हो?'

'नमस्कार, भाई!' मैंने कहा—'आ रहे हैं अगले गाड़ीके स्थानसे। साथ ये मेहमान हैं। अब अँधेरा हो गया है, जाना तो था आगे, लेकिन····'

'बस, बस, बापजी ! मैं समझ गया ।' दोनों हाथ जोड़कर उन्होंने कहा—'यों उजाड़में क्यों पड़े हो ? चलो मेरे साथ । वह जो सामने दीख रहा है, भोलानाथका मन्दिर है, वहाँ रैनबसेरा करो । जरा भी संकोच न करना । सब कुछ मिलेगा वहाँ, तुम लोगोंके लायक....'

'मित्रो ! उठिये । ये गृहस्थ अपनेको बुलाने आये हैं ।' मैंने उन जर्मन दम्पतिको उठाते हुए कहा । हमसे आगे जाकर घरका दरवाजा खोलते हुए पुजारीने कहा—'आओ, आओ बापजी ! यह तुम्हारी जगह है, यहाँ सब कुछ है—सोने-बिछानेको, बैठनेको । मैं जरा दीपकको तेज कर दूँ । थकान मिटाओ । नाश्ता भेज रहा हूँ । क्या खाओगे ? दूध है, गरम-गरम मोटी रोटी है, भिंडीका साग है और अचार है—क्यों चल जायगा न ?' 'महाराज ! यह तकलीफ न उठाइये । हमारे पास जो कुछ है, उसीसे हमारा चल जायगा ।' मैंने विवेककी बात कही ।

मुँह बिचकाकर हँसते हुए पुजारी बोले—'अरे भाई ! तू तो इस देशका है । इस देशका स्वरूप ही है—अतिथिको रोटी और जगह देना, अतिथिको सब कुछ दे देना; फिर यह तो बाबा भोलानाथका मन्दिर है। यहाँके प्रसादको क्या वापस किया जाता है ?' यों कहते हुए वे चले गये ।

मैंने विदेशी दम्पतिको ये सब बातें समझाकर बतायीं । वे तेज आवाजसे बोल उठे—

'हाउ मेग्निफिसंट ! हाउ गोडली । योर भारत इज वंडरफुल ।'

थोड़ी ही देरमें तीन थालियाँ आ गयीं—'लो, करो शुरू'—पुजारीने विनयके साथ कहा ।

जर्मन पतिने मुझसे कहा—'इसके ठीक नहीं है, यह भोजन नहीं करेगी, हम दोनों बैठें । यह दूध लेगी ।'

मैंने पुजारीसे कहा—'एक थाली वापस ले जाइये, बहिनकी तबीयत ठीक नहीं है, यह नहीं खायेगी ।'

चिन्ताभरे चेहरेसे वे बोले—'क्या हो गया मेरी बेटीको ? तुम दोनों भोजन करो । मैं तुरंत गाँवमेंसे वैद्यजीको बुलाता हूँ । लाओ दूध—इसमें सोंठ-पोदीना डालकर उबाल लाऊँ ।' वे दूधकी कटोरी लेकर गये । हमलोगोंने कौर भरना शुरू किया । महाराज तुरंत ही वापस आये और थालीमें दूधको ठंढा करते हुए बोले—'उठ बेटी ! यह उबला दूध पी ले । ज्यादा गरम नहीं है, पीने-जैसा है । वैद्यजी अभी आ रहे हैं, उठ बेटी !'—इनको यह ख्याल नहीं रहा कि यह बहिन उनकी भाषाका अर्थ नहीं समझती, पर इतना विश्वास जरूर था कि यह हृदयका भाव जरूर समझ जायगी । हुआ भी यही, जर्मन बहिन उठ बैठी और चेहरेका पसीना पोंछकर उसने थाली होठोंपर लगा ली । जीवनमें इस प्रकारसे पीनेका कदाचित् उसका यह पहला ही अनुभव था ।

दरवाजेमें प्रवेश करते ही साठ वर्षके वैद्यजी बोले—'महाराज ! कौन बीमार है ? क्या हो गया है ?'

'आइये बापजी ! ये विदेशी मेहमान हैं । इस बहिनकी तबीयत ठीक नहीं है; कुछ खाया नहीं है, देखिये न आप ।—बगलमें बैठकर वैद्यजीने नाड़ी हाथमें ली और बहिनकी तरफ देखते रहे । नाड़ीके ठपके गिने और उन्होंने कहा—'कोई खास बात नहीं है । जरा थकानका भारीपन है । यह पुड़िया जलके साथ दो और शान्तिसे सोने दो । सवेरा होते-होते सब ठीक हो जायगा ।' वैद्यजीने स्वयं ही उसे दवा खिला दी और बहिनकी पीठपर हाथ फेरते हुए कहा—'बेटी ! अब सो जा । मैं बाहर रहूँगा । अरे पुजारी ! अभी मुखियाजी और महाजनके सेठ आ रहे हैं । हम तीनोंकी

गुदड़ी बाहर डाल देना और तुम भी वहीं सो रहना। ये दोनों मेहमान भीतर सो जायँगे।'

सवेरे आठ बजेतक चाय-नाश्ता हो गया। मेरे विदेशी मित्रने मेरे सामने देखा और इशारेसे समझाया कि 'हाथपेटी तथा बगलका झोला नहीं मिल रहे हैं। वे पत्नीके हैं' सुनकर मुझे बड़ा धक्का लगा। मैं घबराया, पर मैंने उनसे कहा—'अभी पता लगाता हूँ, आप चिन्ता न करें।' मैं बाहर आया। वे तीनों बाहर चौकीपर बैठे थे—पुजारी, मुखिया पटेल और महाजनके सेठ।

मैंने कहा—'बहुत बुरा हो गया। अब क्या होगा?'

तीनों एक साथ बोल उठे—'क्या हो गया, कुछ बताओ तो।'

मैंने कहा—'विदेशी मेहमानकी हाथपेटी और झोला नहीं हैं। लगता है—कोई उठा ले गया। इनकी पेटीमें सात हजार रुपयेके नोट थे और झोलेमें कुछ कीमती चीजें—'

उन्होंने मेरे मुखकी तरफ देखा। फिर एक-दूसरेसे आँखें मिलायीं। शायद कुछ बातें कीं—आँखोंसे ही। फिर सेठने कहा—'कोई हरकत नहीं होगी। हमारे गाँवकी सीमामें भोलानाथके मन्दिरमें और हम गाँवके लोगोंके बीचमें चोरी हो जाय—यह हमारे लिये बड़ी शर्मकी बात है। आप दो घड़ी इन्हें इधर-उधरकी बातोंमें लगाये रखिये। मैं घर जाकर अभी-अभी लौटकर आता हूँ। चलो मुखिया!' यों कहकर वे दोनों तेजीसे निकलकर चले गये।

मैं अपने मित्र दम्पतिके पास आया और मैंने उनसे कहा—'आप जरा भी घबरायें नहीं, हमारे देशमें चोरी होती ही नहीं—यहाँ तो रामका राज्य है।' और सीताहरणसे लेकर रावणवध तककी बात पूरी हो, इसके पहले ही सेठ, मुखिया और महाराज लौट आये और 'लो, अतिथिदेव! आपके ये सात हजार रुपये, झोलेके बाबत ये दो हजार और पेटीके पचास रुपये तथा ये एक सौ रुपये हम सबकी ओरसे आपको बिदाईके'—देखते-ही-देखते नौ हजार एक सौ इक्यावन रुपये मेरे हाथमें आ गये। मैंने मेहमानको समझाते हुए रुपये देनेके लिये उनकी ओर हाथ बढ़ाया।

'अरे पुजारी बाबा, ओ पुजारी बाबा'—बाहरसे आवाजें आयीं और एक आदमी दूसरे एक जवान लड़केका कान पकड़े उसे खींचकर अंदरकी ओर लाता दिखायी दिया। उसने कहा—'यह देखो, यह कालिया! कैसा काला काम किया इसने?' श्वासको नीचे बैठाते हुए वह जोर-जोरसे कहने लगा—'देखो, इन साहबकी पेटी और झोलेकी क्या दशा की है इसने! उस बावड़ीकी सीढ़ियोंपर बैठा यह पत्थरसे तोड़ रहा था। मैंने बगलसे आते हुए देखा—अरे, यह तो मरा कालिया है।'

पुजारीने चिल्लाते हुए कहा—'अरे भगले! तूने यह क्या किया? गाँवकी नाक ही काट डाली, कुपात्र कहींका।'

भगलेने रोते-रोते कहा—'बापजी! मैं आप सबकी गाय हूँ। मैंने तो इसके अंदर अच्छी खानेकी चीज मिलेगी—यही समझकर इसे लिया और खोला। देखा तो कागजोंका ढेर। मुझे क्या करना है? इन चित्रलिखे कागजोंको आप देख लें, सब ठीक हैं न? मैंने कुछ भी लिया नहीं है। मुझे जरूरत ही नहीं थी इनकी। वह रवला बताता था, वैसा मीठा रोट और तीखी रोटी (अं० जिंजर-ब्रेड) मिलते तो मजा आता।'

बारह बजे—हम तीनों, गाँवके उपर्युक्त तीनों, कालिया या भगला—सबने साथ बैठकर हलुआ-पूरी-पकौड़ी-मुजियेका भोजन किया। (अखण्ड आनन्द)

—लक्ष्मणलाल० ल० मेहता

(३)

दयालु प्रभुकी दयालुता

(क)

भगवान् बड़े दयालु हैं। माया-मोहमें फँसकर हम उन्हें भूल जाते हैं, परंतु वे हमें कभी नहीं भूलते। दूसरोंकी बात क्या कहूँ ? मुझसे तो कुछ भी नहीं होता। नामजप भी होता है तो नाममात्र ही। ध्यान करना मेरे वशकी बात नहीं रह गयी। ज्यों-ज्यों जरावस्था निकट आती जाती है, शरीर जर्जर होता चला जाता है और साधन-भजन कुछ भी करनेमें मन नहीं लगता।

यमराजाकी बिमल ध्वजा अब जरा दृष्टिमें आती है।
करती हुई युद्ध रोगोंसे देह हारती जाती है॥

नाम-जपमें अपार बल है। कई बार नामजपसे लाभ उठा चुका हूँ, फिर भी यह दशा है—

नाम-जप होत नाम-मात्र ही तथापि अहो,
फल मिल जानै हेतु हृदय विकल है।
बाहर मचाता है पुकार बार-बार, किंतु
अन्तरमें तेरे तो प्रतीति न अटल है॥
दंभसे लुभाना मति जानता नहीं तू अभी
प्रभुका स्वभाव अहो कितना सरल है।
चाहता सफलता तो स्वबल अभिमान छोड़
करुनानिधान को सुहाता नहीं छल है॥

ऐसा लगता है, यह कविता मेरे लिये ही लिखी गयी है। मैं इसे प्रतिदिन पढ़ता हूँ, परंतु मनको इसके अनुकूल नहीं बना पाता। क्या कहूँ, मनकी दुर्बलताको। देव कवि अनजानेमें मनकी दुर्बलतासे भटक गये थे, परंतु मैं तो जान-बूझकर भी भटक रहा हूँ। उन्होंने लिखा है—

जो हौं ऐसो जानत्यौं कि जैहो तू बिषय के संग
रे मन मेरे हाथ-पाँव तेरे तोरतो।
आजु लौं हौं केतो नर नाहन की नाहीं सुनी
नेहसे निहोरि हारि बदन निहोरतो॥
चलन न देतो देव चंचल अचल करि
चाबुक चितावनिन मारि मुँह मोरतो।
भारी प्रेम पाकर बगारे के गरे सौं बाँधि
राधाबर बिरुदकी बारिधि में बोरतो॥

नामकी शरण लेनेपर भगवान्ने कब-कब मुझपर दया की है और बड़े-से-बड़े कष्ट तथा रोगसे मेरा उद्धार किया है—इसकी थोड़ी चर्चा कर देना आवश्यक समझता हूँ। आजसे लगभग पैंतीस वर्ष पूर्व मुझे अश्मरी (पथरी) की बीमारी हुई। डाक्टरोंने कहा—'पटना जाइये और ऑपरेशन कराइये। बिना पत्थर निकाले रोग नहीं जा सकता।' मेरी स्थिति सर्वथा विपरीत थी। न पासमें पैसे और न शरीरमें बल। पीड़ा इतनी कि प्रतिक्षण यह इच्छा होती कि प्राण निकल जायँ तो अच्छा है। इसी समय किसीने कानमें कहा—

सर्वरोगका औषध नाम। कल्यान रूप मंगल गुन ग्राम॥

मैंने सब ओरसे निराश होकर भगवान्का नाम जपना शुरू किया। वे कोई दूर थोड़े ही थे जो आनेमें देर होती। सामने मनमोहनकी झाँकी आयी और उसी क्षण पीड़ा भी दूर हो गयी और रोग भी चला गया। मीराके साँवलिया वैद्यने क्षणभरमें सब कष्ट दूर कर दिया। मैंने उसी समय यह पङ्क्ति लिखी—

आरत अन्त नाम शरणागत बीते आधी रात।
करुणा करि प्रभु कष्ट निवारे मन्द मन्द मुसकात॥

प्रभुकी जो झाँकी उस समय मिली, वह फिर कभी नहीं मिली। यह नहीं कि मैंने बीमार पड़नेमें कोई कोताही की या मुझे क्लेश कम हुआ, परंतु उतनी अगाध श्रद्धा कभी नहीं आयी मनमें और न प्रभु-प्रेममें मन ही डूबा। क्या कहूँ इस मनको।

उड़त फिरत जो तूल सम जहाँ-तहाँ बेकाम।
ऐसे हरुए को धर्‌यौ कहाँ जानि 'मन' नाम॥

(ख)

दूसरी घटना आजसे पौने तीन साल पहलेकी है। बेटी अरुणप्रभाका विवाह करके मैं बरात भी विदा नहीं कर सका था कि मुझे १०५ डिग्री बुखार हो आया। महीना फाल्गुनका था और जाड़ा बहुत कुछ विदा हो चुका था। फिर भी मुझे इतना भयंकर जाड़ा लग रहा था कि शायद उतना जाड़ा हिमालयकी चोटीपर भी नहीं पड़ता होगा। डाक्टरोंने कहा—'यह तो फाइलेरिया है।' सचमुच दायाँ पाँव मुटाने लगा तो वह हाथी-जैसा दिखायी पड़ने लगा। इसी समय पाँवमें भयानक घाव भी हो आया। प्रायः सबने सलाह दी, अस्पताल जाकर ऑपरेशन कराना होगा। यही सलाह मुझे लेफ्टिनेन्ट कर्नल डाक्टर श्रीतारिणी-प्रसाद सिंहने दी और उन्होंने अपनी पुत्री डाक्टर श्रीमती सीता श्रीवास्तवको आवश्यक उपचारके लिये भेज दिया। डाक्टर सीता पितातुल्य मेरा आदर करती हैं। उनकी इच्छा थी कि मैं बड़े अस्पतालमें भरती होऊँ, परंतु मैं वहाँ न जाकर डाक्टर सीताके अस्पतालमें ही जानेको तैयार हुआ। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि ऑपरेशन हुआ और दवा-सुई सब कुछ चलने लगी।

मैं शय्याग्रस्त था। बड़ी कठिनाईसे स्टेचरपर अस्पताल ले जाया जाता था। सब उपचार होनेपर भी तीन-चार महीनेमें केवल घाव अच्छा हुआ और घाव अच्छा हुआ तो उसके बदले जाँघसे नीचे समूचे पाँवमें एक्जिमा (उकवत) हो गया। पाँव ज्यों-का-त्यों सूजा-का-सूजा ही रह गया। लाठी पकड़कर कुछ चलता भी तो अपार कष्ट होता। मैंने मनको भगवान्‌के चरणोंमें लगानेकी कोशिश की, परंतु मन तैयार नहीं हुआ। नाम-जप होता भी तो कड़ी अचानक टूट जाती।

इसी समय 'आर्यावर्त'के वर्तमान सम्पादक पण्डित जयकान्त मिश्रके बड़े भाई पण्डित श्रीकान्तविहारी मिश्र मुझे देखने आये। मेरा कष्ट देखकर वे विह्वल हो उठे। कहने लगे—'मैं एक संतका प्रसाद दे रहा हूँ, विश्वासके साथ रवि और मङ्गलको सेवन कीजिये, अवश्य अच्छे हो जाइयेगा। मेरा रोग इसी ओषधिसे अच्छा हो चुका है। मैं दवाएँ खाता-खाता और सूइयाँ लेता-लेता थक चुका था।'

मैं उसी दिनसे मिश्रजीकी दवा महात्माका प्रसाद समझकर खाने लगा—सप्ताहमें केवल दो बार। मैं यह दवा बाजारसे ले आया। पूरे बीस नये पैसे लगे। आधी दवा ही खा सका कि पाँव बिल्कुल ठीक हो गया। न एक्जिमा रहा और न सूजन ही। आज मेरे पाँवको देखकर कोई कह ही नहीं सकता कि मुझे कभी फील-पाँव हुआ था।

यह दवा थी 'मुसब्बर', जो शायद घीकुआर नामक पौधेसे तैयार होती है। मैंने हर रविवार और मङ्गलवारको चार-पाँच सप्ताहतक इसका सेवन किया और रोग समाप्त हो गया। मसूरके बराबर निगलकर पानी पी जाता था। इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं करना पड़ता था। मिश्रजी अवकाश प्राप्त कर घर चले गये। इस बार ये हालमें आये तो कहने लगे, आप केलेके गूदेके साथ मुसब्बरका सेवन करते तो और अधिक लाभ होता। 'कल्याण'के पाठकोंके लाभके लिये मैंने मिश्रजीसे आज्ञा लेकर महात्माके इस प्रसादको प्रकाशमें लानेकी चेष्टा की है। शायद किसी और भाई या बहिनको इससे लाभ हो। मुसब्बरका स्वाद बड़ा कड़ुआ होता है, परंतु गुण तो बहुत हैं इसमें। फिर महात्माके प्रसादका बल तो इसे प्राप्त है ही। यह रक्तशोधक भी बहुत होता है।

कहनेकी आवश्यकता नहीं कि पहली बार भगवान्‌ने स्वयं मेरी रक्षा की, तो दूसरी बार उन्होंने अपने भक्तको भेजकर मुझे संकटसे बचाया। दयालु प्रभुकी इतनी कृपा होनेपर भी मेरा मन भगवन्नाम-जपमें नहीं लगता, यह बहुत दुःखकी बात है। मैं बार-बार सोचता हूँ—

कह हनुमंत बिपति प्रभु सोई।
जब तव सुमिरन भजन न होई॥

—रघुनन्दनप्रसाद सिंह, पत्रकार, आनन्दग्राम, पटना।

(४)

आपद्धर्ममें प्रायश्चित्त

श्रीउड़िया बाबा संन्यास लेनेके पूर्व जब नैष्ठिक ब्रह्मचर्य आश्रममें थे, उस समयकी एक बारकी घटना है।

आप बालेश्वर जा रहे थे। मार्गमें एक गाँव मिला। उसके एक घरमें आग लग गयी थी। सब लोग घरसे बाहर निकल आये थे, केवल एक नववधू भीतर रह गयी थी। आगकी लपटोंने घरको सब ओरसे घेर लिया था। भीतर जानेका कोई ठीक मार्ग नहीं था। सब लोग बड़े व्याकुल थे। किंतु किसीका ऐसा साहस नहीं था, जो अपनेको इस संकटमें डालकर उसे मृत्युके मुखसे बचावे। यह करुण क्रन्दन आपके कानोंमें पड़ा। आप यह सब न देख सके। दयाने आपकी धर्ममर्यादाके सेतुको भी तोड़ दिया। आप आगमें छलाँग मारकर भीतर घुस गये। वह नववधू इस घोर संकटके समय भी आपसे संकोच कर रही थी, तथापि आप उसे पकड़कर जबरदस्ती बाहर खींच लाये। सच है—

संत हृदय नवनीत समाना। कहा कबिन पै कहै न जाना॥
निज परिताप द्रवै नवनीता। परदुख दुखी संत सुपुनीता॥

यद्यपि इस घोर विपत्तिसे आर्त्तरक्षाके लिये आपको आपद्धर्मने विवश कर दिया, तथापि इसके पीछे स्वधर्म प्रबल हुआ। 'स्त्रीको स्पर्श किया'—यह बात ब्रह्मचर्य-धर्मके प्रतिकूल थी; भले ही ऐसा आपत्तिके समय किया, तथापि इसका प्रायश्चित्त तो करना ही चाहिये। अतः इसका प्रायश्चित्त करनेके लिये आपने तीन दिन और तीन रातका उपवास किया।

'हमारे श्रीमहाराजजी' (पूज्यपाद श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके जीवन-परिचय) से

(५)

मानवता

चंडीगढ़के पंजाबमें चले जानेपर कुछ दिनोंतक पंजाब और हरियाणामें बसे हुए लोगोंमें झगड़े-फसाद होते रहे। हिंसक और अशान्त परिस्थितिमें मेरे पंजाबी मित्रके पिताजीको एक दिन उनकी दूकानपर आकर हरियाणाके कुछ जाटोंने शारीरिक कष्ट पहुँचाया। पुलिसके पहुँच जानेसे दूकान लुटनेसे बच गयी। इस प्रसङ्गको लेकर मेरे मित्रके दिमागमें जाटोंके प्रति नफरतकी एक गाँठ बँध गयी। उनके पिताजीका अस्पतालमें इलाज चल रहा था। दूकानका सारा काम मेरे मित्र सँभालते थे। एक जाटने आकर पूछा—

'लालाजी कहाँ हैं? मुझे खास उन्हींसे मिलना है?'

'आप कौन हैं? क्या काम है?'

'मैं जाट हूँ, मेरा व्यक्तिगत काम है।'

'जाट' शब्द सुनते ही गुस्सेमें फुफकार मारते हुए मेरे मित्रने कहा—'तुम्हारे-जैसे जंगली लोगोंसे मेरे पिताजी नहीं मिल सकते। पिताजी अस्पतालमें घायल पड़े हैं।' आखिर जाटके बहुत कहने-सुनने तथा अनुनय-विनय करनेपर अपने पिताजीका अस्पतालका पता उसे बतला दिया।

रातको पिताजीके पास सोनेके लिये मेरे मित्र गये तब उन्होंने पूछा—'पिताजी! वह जाट-जंगली कौन था? और किस लिये आपसे मिलना चाहता था?'

पुत्रकी मनोदशाको समझते हुए घायल पिताजीने कहा—'बेटा! वह एक किसान था। उसे दो हजार रुपयेकी जरूरत थी। मैंने उसको चेक लिख दिया।'

'चेक? क्या कहते हैं? उस जाटको? यह जमाना भलमनसाहतका नहीं है। इसीके जाति-भाइयोंने आकर बिना ही कारण आपको इस परिस्थितिमें पहुँचाया था। उससे अपना क्या सगापनका सम्बन्ध है?'

'हम पंजाबी, वह जाट! कौन-सी चीज गिरवीं रख गया है? किस व्याजपर रुपये दिये हैं आपने?'

प्रश्नकी परम्परा आगे चले—इसके पहले ही लालाजीने बीचमें रोककर कहा—'बेटा ! तुम्हारे मनकी स्थितिको मैं समझता हूँ । जैसे तुम मेरे एकमात्र पुत्र हो, वैसे ही यह भी अपने पिताका एकमात्र पुत्र है । इसके पिताजी वर्षों पहले अपने खेतमें काम करते थे । हमलोगोंमें नौकर-मालिकका सम्बन्ध नहीं था । वह मुझे बड़े भाईके रूपमें मानता था । फिर तो जब पंजाब तथा हरियाणा अलग-अलग प्रान्त हो गये, तब वह राजी-खुशी अपने घर जाकर खेती करने लगा । आज वह भी अस्पतालमें बुरी हालतमें पड़ा है । ऐसी स्थितिमें उसे हजार-दो हजार रुपयोंकी जरूरत हो और मैं मदद न करूँ, यह कहाँतक ठीक है ? अपने भरोसेपर आया हुआ आदमी क्या निराश लौट जाय ? भाईपनके सम्बन्धमें क्या व्याज या गिरवीं-जैसे शब्दोंपर वैसे विचार किया जा सकता है ?'

'परंतु पिताजी ! वह तो जाट'—

'इससे क्या हो गया ? वह क्या इन्सान नहीं है ? कुछ बेसमझ लोगोंने सच्ची परिस्थितिको बिना समझे ही मुझपर हमला कर दिया । इससे क्या सब जाटोंको एक ही मापदण्डसे मापा जा सकता है ? उन बेचारोंको क्या पता है ? पहले पंजाब और हरियाणा एक ही थे । पीछे सुविधाके लिये उनके हिस्से हो गये, इससे क्या मनुष्योंके दिलोंके भी हिस्से हो गये ? जमीनके विच्छेदके साथ मनुष्यसे मनुष्यके सम्बन्धमें विच्छेद डाल देना क्या अच्छी बात है ? इसी प्रकार यह चंडीगढ़के विभागकी बात है । भविष्यमें भी जमीनके तो टुकड़े होते रहेंगे, इसीके साथ-साथ क्या मानव अपने हृदयके भी टुकड़े करते रहें ? यह किस देशकी संस्कृति है ? क्या यही हमारी उच्च शिक्षा है ?' चेहरेपर छाये हुए विषाद तथा करुणाभावके साथ पूछे गये इन प्रश्नोंका मेरे मित्रके पास कोई जवाब नहीं था । (अखण्ड आनन्द) —चन्द्रकान्त त्रिवेदी

(६)

आदर्श ईमानदारी तथा सत्यनिष्ठा

संघ-यात्रियोंकी गाड़ी पालीताणा स्टेशनपर दि० ५ । १२ शनिवारको प्रातः ८॥ बजे पहुँची । संघके एक प्रमुख यात्री श्रीटीलचन्द्रजी भाणजी भाईका एक स्टील वेग पालीताणा स्टेशनके तीसरे दर्जेके मुसाफिरखानेमें भूलसे छूट गया । उसमें ग्यारह हजार रुपये नकद तथा दस हजार रुपये करीबके आभूषण थे । संघके लोग सब श्रीदिगम्बर जैन धर्मशालामें ठहराये गये । धर्मशाला पहुँचनेपर श्रीटीलचन्द्रजीको पता लगा कि उनका स्टील बैग कहीं रह गया है । उन्होंने धैर्य रक्खा । भोजनादिके बाद मुझको तथा श्रीरंगविजयजीको उन्होंने बतलाया । हमलोग सोच ही रहे थे कि इसी बीच पालीताणा स्टेशनके टिकट बाबू श्रीहरिबाबूजी पालीवाल पधारे और उन्होंने बड़ी विनम्रता तथा सज्जनताके साथ सूचना दी कि 'घबरानेकी बात नहीं है । बक्स उनकी आफिसमें सुरक्षित है ।' उनसे यह समाचार सुनकर सबको बड़ी प्रसन्नता हुई । श्रीटीलचन्द्रजीको तो आजके इस पतन-युगमें एक नवीनताका अनुभव हुआ । फिर हम लोग लगभग डेढ़-पौने दो बजे श्रीपालीवालजीके साथ स्टेशन गये और श्रीयोगेशजी पाठक उपस्थित ड्यूटी स्टेशन मास्टरके समक्ष पेटी प्राप्त की । श्रीपालीवालजीकी यह ईमानदारी, शील तथा सौजन्य सर्वथा आदर्श तथा आदरणीय है ।

मैं तथा मेरी संस्था श्रीराजेन्द्र-जैनभवन श्रीपालीवालजी तथा रेलवे प्रशासनके आभारी हैं कि हमें ऐसे विकट कालमें, जब कि पैसेके लिये खून, हत्या, डकैती सब कुछ हो रही है—हमें ऐसे श्रेष्ठ आचरणयुक्त कर्तव्यपरायण सत्यनिष्ठ भद्र पुरुषोंके साथ समागमका सुअवसर मिला ।

—श्रीजयप्रकाश जैन, मैनेजर, श्रीराजेन्द्र जैनभवन, पालीताणा (गुजरात)

श्रीहरिः

कल्याण

[भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और सदाचार-सम्बन्धी सचित्र मासिक-पत्र]

वर्ष ४४

[साधारण अङ्क-संख्या २ से १२ तककी विषय-सूची। विशेषाङ्ककी विषय-सूची उसीके आरम्भमें देखनी चाहिये, वह इसमें सम्मिलित नहीं है।]

सं० २०२६-२०२७ वि०

सन् १९७० ई०

की

निबन्ध, कविता, कहानी

तथा

चित्र-सूची

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार
चिम्मनलाल गोस्वामी एम्० ए०

[प्रकाशक—मोतीलाल जालान]

कल्याण-कार्यालय, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

वार्षिक मूल्य रु० ९.०० (नौ रुपये)
विदेशोंके लिये रु० १३.३५ (१५ शिलिंग)

साधारण प्रति भारतमें .५० (पचास पैसे)
विदेशमें .८० (अस्सी पैसे) (१० पेंस)

निबन्ध-सूची

पद्य-सूची

कहानी-सूची

चित्र-सूची

(रंगीन)

(सादा)

(रेखा-चित्र)

सन् १९७० में छपी हुई इक्कीस नवीन पुस्तकें

१–श्रीरामचरितमानसका बृहदाकार मूल संस्करण—यह संस्करण हमारे सटीक १८.०० वाले संस्करणका ही मूलमात्र निकाला गया है, वही आकार है ११.००

२–संक्षिप्त महाभारत भाग १—आदिपर्वसे लेकर द्रोणपर्वतक महाभारतका सरल और संक्षिप्त अनुवाद, पृष्ठ-संख्या ८६४, सजिल्द १०.००

३–संक्षिप्त महाभारत भाग २—कर्णपर्वसे लेकर स्वर्गारोहणपर्वतक महाभारतका सरल और संक्षिप्त हिंदी-अनुवाद, पृष्ठ-संख्या ८३०, सजिल्द १०.००

४–श्रीमद्भागवतगान—(रचयिता–स्वामी श्रीरामदत्तजी पर्वतीकर 'वीणा' महाराज) श्रीमद्भागवतके बारहों स्कन्धों तथा आदि-अन्तमें आये हुए भागवत-माहात्म्यकी कथाओंके स्वारस्यका पद्यरूपमें संग्रह किया गया है। आकार २०×३०, पृष्ठ-संख्या २८०, सजिल्द ... ४.५०

5–Fountain of Bliss—Collection of a number of inspiring and illuminating articles from the pen of learned writer 'Siva' which originally appeared every month in Kalyan under the caption 'Kalyan', Pages 206, Cloth-bound 2.50

६–श्रीराधा-माधव-चिन्तन-परिशिष्ट—(ग्रन्थकार–श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) यह पूर्वप्रकाशित 'श्रीराधा-माधव-चिन्तन'का ही एक अंश है। पृष्ठ-संख्या २४० ... ... २.००

७–प्राचीन भारतमें गोमांस–एक समीक्षा—इसके अनुशीलनसे पाठक अवश्य समझ जायँगे कि 'वैदिक कालमें गो-हिंसा और गो-मांस-भक्षण प्रचलित था' यह मत सर्वथा मिथ्या है। पृष्ठ-संख्या २३८, सजिल्द २.००

८–व्रज-रसकी लहरें—भगवान्‌की लीलाओंके खड़ी बोली, व्रजभाषा और मिश्रितमें मधुर पदोंका राग-ताल आदिके साथ संग्रह। पृष्ठ-संख्या २५६ ... ... १.७०

९–महाभागा व्रजदेवियाँ—महामहिमामयी व्रजनारियोंका एक संतके द्वारा लिखित पुण्य-स्मरण। पृष्ठ-संख्या १०६, सजिल्द १.५०

१०–हरिप्रेरित हृदयकी वाणी—सर्वथा मननीय, संग्रहणीय और जीवनमें उतारने योग्य पदोंका राग-ताल-सहित संग्रह। पृष्ठ-संख्या २०८ ... ... १.४०

११–श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण—केवल सुन्दरकाण्ड, मूलमात्र, गुटका साइज, सजिल्द, पृष्ठ-संख्या ३६८ ... १.२५

१२–श्रीनिमाई-संन्यास—(लेखक–स्व० महात्मा श्रीशिशिरकुमार घोष) चैतन्यमहाप्रभुके जीवन-चरित्रका नाटकरूपमें मधुर वर्णन, पृष्ठ-संख्या १२२ ... ... ०.७५

१३–गीता-दैनन्दिनी १९७१ ई०—पृष्ठ-संख्या ४१६, आकार २२×२९, बत्तीसपेजी ... ०.७५

१४–दानवोंमें भी मानवता—(पढ़ो, समझो और करो, भाग १२) चरित्र-निर्माण और संरक्षण तथा संवर्धनकी शिक्षा देनेवाली सत्य घटनाओंका बारहवाँ संग्रह। पृष्ठ-संख्या १३४ ... ०.५०

१५–साधन-रहस्य—(लेखक–स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराज) इसमें 'कल्याण'में गये हुए लेख हैं ... ०.४०

१६–श्रीराधा-माधवका मधुर रूप-गुण-तत्त्व—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके राधाष्टमी-महोत्सवपर दिये गये प्रवचनोंका संग्रह। पृष्ठ-संख्या २८ ... ... ०.२५

१७–पद्मपुराणान्तर्गतं श्रीविष्णुसहस्रनामस्तोत्रम्—सानुवाद, पृष्ठ-संख्या १०८ ... ०.२५

१८–पद्मपुराणान्तर्गतं श्रीविष्णुसहस्रनामस्तोत्रम्—मूलमात्र, पृष्ठ-संख्या २८ ... ... ०.१५

१९–श्रीकृष्ण-महिमाका स्मरण—श्रीकृष्ण-जन्माष्टमीके दिन दिया गया श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारका भाषण, पृष्ठ-संख्या ३६ ... ... ०.२५

२०–जीवनोपयोगी कल्याण-मार्ग—(लेखक–स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराज) पृष्ठ-संख्या ४४ ... ०.२०

२१–भगवान् श्रीकृष्णकी कृपा तथा दिव्य प्रेमकी प्राप्तिके लिये—(भगवान् शंकरके द्वारा कथित महत्त्वपूर्ण स्तोत्र) पृष्ठ-संख्या १२ ... ... ०.१०

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

चार बातोंपर विशेष ध्यान दीजिये

१–तन-मन-वचनसे कभी ऐसा कोई काम मत कीजिये, जिसमें किसी भी दूसरेका तनिक भी अहित होता हो।

२–तन-मन-वचनसे सदा-सर्वदा सबकी सेवाके रूपमें, केवल सेवाके लिये ही, भगवान्‌की सेवा कीजिये।

३–मनसे भगवान्‌का चिन्तन, वाणीसे भगवान्‌के नामका जप-कीर्तन तथा गुणगान और शरीरसे भगवान्‌की सेवाके भावसे ही सब काम कीजिये।

४–मृत्यु निकट है; मृत्यु होनेपर यहाँके अपने-परायेके सारे सम्बन्ध छूट जायँगे। अतएव पहलेसे ही कहीं भी राग-द्वेष, ममता-मोह न रखकर भगवच्चिन्तनमें ही जीवन लगाइये, जिससे अन्तकालमें भी भगवान्‌का स्मरण हो और मनुष्यजन्म सफल हो जाय।

क्षमा-प्रार्थना

'कल्याण'के प्रधान सम्पादककी लंबी अस्वस्थता तथा अन्यान्य कई अनिवार्य कारणोंसे गत वर्षकी भाँति इस वर्ष भी 'कल्याण'के मासिक अङ्क बहुत विलम्बसे निकलते रहे। 'कल्याण'के सुहृद् ग्राहक महानुभावोंको बड़ी असुविधा रही, उन्हें बार-बार पत्र लिखने पड़े, इसके लिये हम बड़े संकोचके साथ उनसे क्षमा-प्रार्थना करते हैं। यह बारहवाँ अङ्क भी बहुत देरसे निकल रहा है और आगामी 'विशेषाङ्क'के प्रकाशनमें तो इस बार विशेष विलम्बकी सम्भावना है। बहुत प्रयत्न करनेपर भी सम्भवतः मार्चके आरम्भमें विशेषाङ्क प्रकाशित हो सकेगा। हमारी विवशता देखकर कृपालु ग्राहक तथा प्रेमी पाठक सदा ही क्षमा करते रहे हैं। इस बार भी वे धैर्य रक्खेंगे और क्षमा करनेकी कृपा करेंगे! ऐसी विनीत प्रार्थना है।

व्यवस्थापक—'कल्याण'

सम्मान्य ग्राहकों, पाठकों तथा लेखक महानुभावोंसे प्रार्थना

१. 'कल्याण' का ४४वाँ वर्ष इस अङ्कमें पूरा हो गया है। आगामी जनवरीका विशेषाङ्क 'अग्निपुराण, गर्गसंहिता और नरसिंहपुराण-अङ्क' होगा। इसमें अग्निपुराणके बचे १८३ अध्याय, गर्गसंहिताका अश्वमेध-खण्ड रहेगा। इन दोनोंमें ही नयी-नयी अत्यन्त उपयोगी तथा रोचक कथाएँ रहेंगी। श्रीनरसिंहपुराण तो एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है ही। अतएव इस साल जो ग्राहक नहीं रहे हैं, उन- नये ग्राहकोंको भी नयी बड़ी उपादेय तथा श्रीभगवान्की मधुर लीलाओंसे पूर्ण मधुर-मधुर सामग्री पढ़नेको मिलेगी। कथाओंके अनुरूप रंगीन तथा सादे चित्र भी रहेंगे। अङ्क सर्वथा संग्रहके योग्य होगा।

२. खर्च उत्तरोत्तर बढ़ रहा है। कागज, डाकमहसूल, वेतन—सभीमें वृद्धि हुई है। खर्च और भी बढ़नेकी सम्भावना है तथापि मूल्यमें केवल १) बढ़ाकर दस रुपये रक्खे गये हैं। यथार्थमें यह मूल्य एक विशेषाङ्कके लिये भी पूरा नहीं है, पर यदि अनिवार्य बाधा नहीं आयी तो ११ महीने तक साधारण मासिक अङ्क भी दिये ही जायँगे। मनीआर्डर-फार्म भेजे जा चुके हैं। रुपये शीघ्र भेजनेकी कृपा करें। भेजते समय मनीआर्डर-कूपनमें अपना नाम, पूरा पता, ग्राम या मुहल्ला, डाकघर, जिला, प्रदेश—साफ-साफ अक्षरोंमें लिखनेकी कृपा करें। ग्राहक-नम्बर अवश्य लिखें। नये ग्राहक हों तो 'नया ग्राहक' लिखना कृपया न भूलें।

३. ग्राहक-संख्या न लिखनेसे आपका शुभ नाम नये ग्राहकोंमें लिखा जा सकता है। इससे विशेषाङ्ककी एक प्रति नये नम्बरोंसे तथा एक प्रति पुराने नम्बरोंसे वी० पी० द्वारा जा सकती है। यह भी सम्भव है कि आप उधरसे रुपये कुछ देरसे भेजें और पहले ही यहाँसे आपके नाम वी० पी० चली जाय। दोनों ही स्थितियोंमें आप कृपापूर्वक वी० पी० वापस न लौटाकर नये ग्राहक बना दें और उनका नाम-पता साफ-साफ लिखनेकी कृपा करें। सभी ग्राहक-पाठक महानुभावोंसे तथा पाठिका-ग्राहिका देवियोंसे यह भी निवेदन है कि वे प्रयत्न करके 'कल्याण' के दो-दो नये ग्राहक बनाकर उनके रुपये मनीआर्डरद्वारा शीघ्र भिजवानेकी कृपा करें। इससे भगवान्की सेवा होगी।

४. जिन पुराने ग्राहकोंको किसी कारणवश ग्राहक न रहना हो, वे कृपापूर्वक एक कार्ड लिखकर अवश्य सूचना दे दें, जिससे व्यर्थ 'कल्याण'-कार्यालयको हानि न सहनी पड़े।

५. इस वर्ष भी सजिल्द 'अङ्क' देनेमें कठिनता है और बहुत विलम्बसे दिये जानेकी सम्भावना है। यों सजिल्दका मूल्य ११) ५० है।

६. यह बारहवाँ अङ्क कुछ देरसे जा रहा है और विशेषाङ्कके सम्पादन, मुद्रण तथा चित्रनिर्माण एवं मुद्रणमें पर्याप्त विलम्ब हो रहा है, अतः बहुत चेष्टा करनेपर भी फरवरीके अन्त या मार्चके आरम्भसे पूर्व अङ्क निकलना सम्भव नहीं मालूम होता। ग्राहक महानुभाव इस विलम्बके लिये कृपया धैर्य रक्खें, पत्र-व्यवहार न करें और हमारी विवशताके लिये अपने शीलकी ओर देखकर क्षमा करें। इस विशेषाङ्कमें लेख नहीं जा सकेंगे। लेखक महानुभाव भी क्षमा करें। यह सबसे विनीत प्रार्थना है।

व्यवस्थापक—'कल्याण', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)